श्रीः ।

पञ्चदशगीता ।



काश्यपगीतादिनवगीतापंचदश-
प्रकरणात्मिका ।
रोहितकप्रदेशान्तर्गतवेरीग्रामनिवासिगौडवंशाव-
तंसविविधशास्त्रपरमपण्डितश्रीशिवसहाय-
सूनुरविदत्तशास्त्रिविरचितया भावदीपक-
भाषाटीकया समेता ।



सेयम्
मुम्बय्यां
खेमराज श्रीकृष्णदास इत्यनेन
स्वकीये "श्रीवेंकटेश्वर" मुद्रणालये
मुद्रयित्वा प्रकाशिता ।

सवत् १९५२, शके १८१८

श्रीः ।

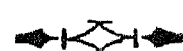
अथ पंचदशगीताकी अनुक्रमणिका ।

इत्यनुक्रमणिका समाप्ता ।

श्रीगणेशाय नमः ।

अथ पञ्चदशगीता

भाषाटीकासमेताः प्रारभ्यते ।



श्रीमद्गुरुन्नमस्कृत्य विशुद्धानन्दरूपिणः ॥
पञ्चदशगीताग्रन्थो रविदत्तेन रच्यते ॥ १ ॥

अर्थ--अब ग्रन्थकार निर्विघ्नपूर्वक ग्रन्थकी समाप्तिके लिये नमस्कारात्मक मङ्गल करता है विशुद्ध आनन्द रूपवाले श्रीमान् गुरुजीको प्रणामकर रविदत्त पञ्चदश गीता ग्रन्थको रचता है ॥ १ ॥

अथ काश्यपगीता ॥

अत्राप्युदाहरन्तीमा गाथा नित्यं क्षमावताम् ॥
गीताः क्षमावतां कृष्णे काश्यपेन महात्मना ॥ २ ॥

अब काश्यपगीता कहते हैं ॥

अर्थ--यहां राजा युधिष्ठिर द्रौपदीको कहता है कि हे कृष्णे नित्य प्रति क्षमावालोंकी गाथा अर्थात् प्रशंसाको मुनिजन कहते हैं जो महात्मा काश्यपजीनें क्षमावालोंके बीचमें गानकरी है॥ २॥

क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदाः क्षमा श्रुतम् ॥
य एतदेव जानाति स सर्वं क्षंतुमर्हति ॥ ३ ॥

अर्थ–क्षमा धर्महै अर्थात् क्षमासे हीन हुएको धर्म आदि अनर्थ कारक होतेहैं क्षमा यज्ञहै क्षमा वेदहै क्षमा श्रुतहै अर्थात्

उत्तम शास्त्रोंका श्रवणहै जो धर्मआदि फलको चाहनेंवाला इस प्रकार जानताहै वह सब प्रकार क्षमाके योग्यहै अर्थात् सबको सह सक्ताहै ॥ ३ ॥

क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च ॥
क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत् ॥ ४ ॥

अर्थ—क्षमा ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मणहै क्षमा सत्यहै अर्थात् परब्रह्मको प्राप्त करतीहै क्षमा तपहै अर्थात् सञ्चित क्रिया तपहै क्षमा भाविहै अर्थात् भाविसे रक्षा करतीहै क्षमा शौचहै अर्थात् बाहिरभीतरकी शुद्धिहै क्षमानें यह संसार धारण कियाहै ॥ ४ ॥

अतियज्ञविदांलोकान्क्षमिणः प्राप्नुवन्ति च ॥
अतिब्रह्मविदांलोकानतिचापि तपस्विनाम् ॥ ५ ॥

अर्थ—यज्ञको जाननेवालोंके लोकोंसे ऊपरके लोकको क्षमावाले प्राप्त होतेहैं ब्रह्म अर्थात् वेदको जाननेंवालोंके लोकोंसे ऊपरके लोकको क्षमावाले प्राप्त होतेहैं तपस्वियोंके लोकोंसे ऊपरके लोकको क्षमावाले प्राप्त होतेहैं ॥ ५ ॥

अन्येवै यजुषां लोकाः कर्मिणामपरे तथा ॥
क्षमावतां ब्रह्मलोके लोकाः परमपूजिताः ॥ ६ ॥

अर्थ—त्रेताग्निसाधकोंको अन्यलोक मिलतेहैं बावडी कूवा आदि बनानेवालोंको अन्यलोक मिलतेहैं परन्तु क्षमावालोंको ब्रह्मलोकमें परम पूजितलोक मिलतेहैं ॥ ६ ॥

क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम् ॥
क्षमा सत्यं सत्यवतां क्षमा यज्ञः क्षमा शमः ॥ ७ ॥

अर्थ--क्षमा तेजवालोंका तेजहै क्षमा तपस्वियोंका तपहै क्षमा सत्यवालोंका सत्यहै क्षमा यज्ञ है क्षमा शम अर्थात् शांति है॥ ७॥

तां क्षमां तादृशीं कृष्णे कथमस्मद्विधस्त्यजेत् ॥
यस्यां ब्रह्मच सत्यंच यज्ञालोकाश्चधिष्ठिताः ॥ ८॥

अर्थ--हे कृष्णे द्रौपदि तिस प्रकारकी उस क्षमाको मेरा सरीखा पुरुष कैसे त्यागै जिस क्षमामें ब्रह्म सत्य और उत्तम लोक स्थितहैं ॥ ८ ॥

क्षन्तव्यमेव सततं पुरुषेण विजानता ॥
यदाहि क्षमते सर्वं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ९ ॥

अर्थ--विशेष कर जाननेवाला पुरुषनें निरंतर क्षमा करनी जब मन प्राण इं इन्होंके वेगको सहताहै तब ब्रह्म अर्थात् ईश्वर प्राप्त होताहै ॥ ९ ॥

क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ॥
इह सन्मानमृच्छन्ति परत्र च शुभां गतिम् ॥ १० ॥

अर्थ--क्षमावालाको यह लोक सुखदायक है क्षमावालोंको परलोक सुखदायकहै इस लोकमें सन्मानको प्राप्त होतेहैं और परलोकमें शुभगतिको प्राप्त होतेहैं ॥ १० ॥

येषां मन्युर्मनुष्याणां क्षमयाऽभिहतः सदा ॥
तेषां परतरे लोकास्तस्मात्क्षांतिः परा मता ॥ ११ ॥

अर्थ--जिन मनुष्योंका क्रोध सब कालमें क्षमासे नष्ट होताहै उन्होंको सत्य लोकमें उत्तम लोक अर्थात् भोग्यपदार्थ मिलतेहैं ११

इति गीताः काश्यपेन गाथा नित्यं क्षमावताम् ॥

श्रुत्वा गाथाः क्षमायास्त्वं तुष्य द्रौपदि माक्रुधः ॥१२॥

अर्थ--नित्य क्षमावालोंके लिये काश्यपनें ये गाथा गाईहैं क्षमाकी गाथा अर्थात् प्रशंसाको सुन हे द्रौपदि प्रसन्न हो ओर क्रोध मतकर ॥ १२ ॥

पितामहः शांतनवः क्षमां संपूजयिष्याति ॥
कृष्णश्च देवकीपुत्रः क्षमां संपूजयिष्याति ॥ १३ ॥

अर्थ--भीष्म पितामह शांतिको पसंद करताहै देवकीका पुत्र श्रीकृष्णभी शांतिको पसंद करताहै ॥ १३ ॥

आचार्यो विदुरः क्षत्ता शममेव वदिष्यतः ॥
कृपश्च संजयश्चैव शममेव वदिष्यतः ॥ १४ ॥
सोमदत्तो युयुत्सुश्च द्रोणपुत्रस्तथैव च ॥
पितामहश्च नो व्यासः शमं वदति नित्यशः ॥ १५ ॥

अर्थ-- द्रोणाचार्य और विदुर शांतिको पसंद करते हैं कृपाचार्य और संजयभी शान्तिकोही पसंद करते हैं ॥ १४ ॥ सोमदत्त युयुत्सु अश्वत्थामा और हमारा पितामह वेदव्यासजी ये सब नित्य प्रति शांतिको पसंद करते हैं ॥ १५ ॥

सुयोधनो नार्हतीति क्षमामेवं न विन्दति ॥
अर्हस्तत्राहमित्येवं तस्मान्मां विन्दते क्षमा ॥ १६ ॥
एतदात्मवतां वृत्तमेष धर्मः सनातनः ॥
क्षमाचैवानृशंस्यं च तत्कर्तास्म्यहमंजसा ॥ १७ ॥

अर्थ--सुयोधन राज्यके योग्य नहीं है इस लिये क्षमाको प्राप्त नहीं होता मैं राज्यके योग्यहूं तिस लिये मुझको क्षमा प्राप्त

है ॥ १६ ॥ आत्मज्ञानियोंका यही वर्ताव है यही सनातन धर्म है क्षमा और अनृशंसपना अर्थात् दयापना तत्वसे क्षमा और अनृशंसपनाको मैं करता हूं ॥ १७ ॥

परैस्ताडितस्यापितत्ताडनसमर्थस्य
चित्ते क्षोभानुत्पत्तिः क्षमा ॥ १८ ॥

इति काश्यपगीता समाप्ता ॥ १ ॥

इति प्रथमं प्रकरणम् ॥ १ ॥

अर्थ--शत्रुओंनें ताडित किया हो और वह उन शत्रुओंको ताडित करनेमें समर्थ हो उसके चित्तमें क्रोधकी उत्पत्ति नहीं होना वह क्षमा है ॥ १८ ॥

इति रोहतकप्रदेशान्तर्गतवेरीग्रामनिवासीगौड़वंशा-
वतंसविविधशास्त्रपरमपण्डितश्रीशिवसहायपुत्र
रविदत्तशास्त्रिविरचितपञ्चदशगीताभावदीप-
कभाषाटीकायां काश्यपगीता समाप्ता ॥ १ ॥
यहां प्रथम प्रकरण समाप्त हुआ ॥ १ ॥

अथ शौनकगीता ॥

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानिच ॥
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ १ ॥

अब शौनकगीता कहते हैं ॥

अर्थ--शौनकमुनि राजा युधिष्ठिरको कहता है शोक अर्थात् मनका तापके स्थान हजारहं भय अर्थात् मरनेसे उद्वेगके

स्थान हजारहं दिन दिन प्रति मूर्खको प्रवेश करते हैं और पण्डितको प्रवेश नहीं करते हैं ॥ १ ॥

नहि ज्ञानविरुद्धेषु बहुदोषेषु कर्म्मसु ॥
श्रेयोघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥ २ ॥

अर्थ--कि धर्ममें सामर्थ्यके अभावसे मुझको शोक भयहै किंतु राज्यका छुटना और वनवास होनेसे शोक भय नहींहै ऐसी शंका होनेमें राजाको मुनि कहतेहैं कि प्रवृत्तिरूप यज्ञ दान आदि धर्म ज्ञानके विरोधीहै क्यों कि यज्ञदानआदिमें द्वैत प्रतीत होताहै पशु और बीजका नाश आदिसे यज्ञ बनताहै इसलिये यज्ञमें बहुत दोषहैं इसी कारणसे श्रेय अर्थात् मोक्षके विरोधीहै ऐसे धर्मोंमें आप सरीखे बुद्धिमान् अत्यंत अभिनिवेश नहीं करतेहैं ॥ २ ॥

अष्टाङ्गां बुद्धिमाहुर्या सर्वाश्रेयोविघातिनीम् ॥
श्रुतिस्मृतिसमायुक्तां राजन्सा त्वय्यवस्थिता ॥ ३ ॥

अर्थ--ऐसे कर्मनिष्ठाकी निन्दाकर योगनिष्ठाको ग्रहण करवाताहै यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधि ये आठ अङ्गयोग सूत्रमे कहेहैं संकल्पको बंध करतेहैं इन आठ अंगोंवाली और तत्त्वमसि आदि वाक्यसे उपजी सब अज्ञानोंकी नाशनेवाली और श्रुति स्मृतिसे दृढ करीहै ऐसी जिस बुद्धिको विद्वान् कहतेहै वह बुद्धि हे राजन् हमारे सन्निधानसे तेरे विषैं स्थितहै ॥ ३ ॥

अर्थकृच्छ्रेषु दुर्गेषु व्यापत्सु स्वजनस्य च ॥

ःखैर्नसीदन्ति भवद्विधाः ॥ ४ ॥

अर्थ--अर्थकच्छ्र अर्थात् धननाश भोजनवस्त्र आदिके अभावसे दुस्तर शरीरका दुःख और स्त्रीका चीर उतारना आदि मनका दुःख इन्होकरकै आपसरीखे सज्जन दुःखित नहीं होतेहैं क्यों कि शारीरदुःखको सहनेसे और मानसदुःखको विवेकसे नाशनेको आप समर्थ हो ॥ ४ ॥

श्रूयतां चाभिधास्यामि जनकेन यथा पुरा ॥
आत्मव्यवस्थानकरा गीताः श्लोका महात्मना ॥ ५ ॥

अर्थ--सुनो मैं कहताहूं जैसे पहले महात्मा जनकजीनें मनकी स्थिरताके कारणरूप श्लोक गायेहैं ॥ ५ ॥

मनोदेहसमुत्थाभ्यां दुःखाभ्यां मर्दितं जगत् ॥
तयोर्व्याससमासाभ्यां शमोपायमिमं शृणु ॥ ६ ॥

अर्थ--मन और शरीरसे उपजे दुःखोंसे संसार पीडितहै शारीर और मानस दुःखोंके विस्तार और संक्षेपसे इस शांतिका उपाय सुन ॥ ६ ॥

व्याधेरनिष्टसंस्पर्शाच्छ्रमादिष्टविवर्जनात् ॥
दुःखं चतुर्भिः शारीरं कारणैः संप्रवर्तते ॥ ७ ॥

अर्थ--रोग अनिष्ट अर्थात् कांटा आदि लगना परिश्रम अन्नआदिका वर्जना इन चार कारणोंसे शारीरदुःख प्रवृत्त होताहै ॥ ७ ॥

तदातत्प्रतिकाराच्च सततं चाविचिंतनात् ॥
आधिव्याधिप्रशमनं क्रियायोगद्वयेन तु ॥ ८ ॥

अर्थ--औषधसे रोग दूर होताहै जूती पहनना आदिसे कांटाआदि नहीं लगता है स्वस्थपनासे परिश्रम नहीं रहताहै अन्नआदि मिलनेसे अनिष्ट नहीं होताहै इन्होसे और निरंतर शारीरदुःखको नहीं चितवन करनेसे आधिव्याधि अर्थात् शारीरदुःख शांत होताहै ॥ ८ ॥

मतिमन्तो ह्यतो वैद्याः शमं प्रागेव कुर्वते ॥
मानसस्य प्रियाख्यानैः संभोगोपनयैर्नृणाम् ॥ ९ ॥

अर्थ--इस वक्ष्यमाण हेतुसे बुद्धिमान विद्यावाले मनुष्य मानस दुःखसे पहलेही शांतिको करतेहै अनुकूल बोलना बहुत लाभ दिखानेसे धननाश आदिसे उपजा मानसदुःख शांत होताहै स्त्रीआदिको समर्पण करके कामादिसे उपजा मानस दुःख शांत होताहै ॥ ९ ॥

मानसेनाहि दुःखेन शरीरमुपतप्यते ॥
अयस्तप्तेन पिण्डेन कुम्भसंस्थमिवोदकम् ॥ १० ॥

अर्थ--मानस अर्थात् मनके दुःखसे शरीर जलताहै जैसे तपायाहुआ लोहाका गोलासे पानी ॥ १० ॥

मानसं शमयेत्तस्माज्ज्ञानेनाग्निमिवाम्बुना ॥
प्रशान्ते मानसे ह्यस्य शारीरमुपशाम्यति ॥ ११ ॥

अर्थ--तिसकारणसे मानस दुःखको ज्ञानसे शान्त करे जैसे अग्निको पानीसे इस मनुष्यके मानस दुःख शांत होनेमें शारीरदुःख शान्त होजाताहै ॥ ११ ॥

मनसो दुःखमूलं तु स्नेह इत्युपलभ्यते ॥
स्नेहात्तु सज्जते जन्तुर्दुःखयोगमुपैतिच ॥ १२ ॥

अर्थ--मनके दुःखका मूल स्नेह अर्थात् प्रीति प्राप्त होतीहै स्नेहसे प्राणी प्रवृत्त होताहै और प्रवृत्तिसे दुःखके योगको प्राप्त होताहै ॥ १२ ॥

स्नेहमूलानि दुःखानि स्नेहजानि भयानि च ॥
शोकहर्षौ तथायासः सर्वं स्नेहात्प्रवर्त्तते ॥ १३ ॥

अर्थ--स्नेहसे दुःख उपजतेहैं और स्नेहसे भय उपजतेहैं शोक आनन्द और क्लेश ये सब स्नेहसे प्रवृत्त होतेहैं ॥ १३ ॥

स्नेहाद्भावोऽनुरागश्च प्रजज्ञे विषये तथा ॥
अश्रेयस्कावुभावेतौ पूर्वस्तत्र गुरुः स्मृतः ॥ १४ ॥

अर्थ--स्नेहसे भाव अर्थात् संकल्प और विषयमें अनुराग अर्थात् पीछे होनेवाली प्रीति ये उपजतेहै ये दोनों कल्याण कारक नहींहै भाव और अनुराग इन दोनोंमें भाव अर्थात् संकल्प करना अत्यंत बुरा कहाहै इसलिये संकल्पका त्याग मुख्य साधनहै ॥ १४ ॥

कोटराग्निर्यथाशेषं समूलं पादपं दहेत् ॥
धर्मार्थौतुतथाऽल्पोपि रागदोषो विनाशयेत् ॥ १५ ॥

अर्थ--जैसे कोटर अर्थात् वृक्षके छिद्रमें प्राप्त हुआ अग्नि जड सहित वृक्षको जलाताहै तैसे अल्पभी राग अर्थात् प्रीति दोष धर्म अर्थको नाशताहै ॥ १५ ॥

विप्रयोगेन तु त्यागी दोषदर्शी समागमे ॥
विरागं भजते जन्तुर्निर्वैरो निरवग्रहः ॥ १६ ॥

अर्थ--विषयके वियोगमें जो त्यागी है वह त्यागी नहीं किंतु

विषयके समागममें जो दोषदर्शी है वही त्यागीहै वही वैरमे रहित और प्रतिबंधसे शून्य हुआ विरागको सेवताहै ॥ १६ ॥

तस्मात्स्नेहं न लिप्सेत मित्रेभ्यो धनसंचयात् ॥
स्वशरीरसमुत्थं च ज्ञानेन विनिवर्त्तयेत् ॥ १७ ॥

अर्थ–तिस कारणसे मित्र और धनोंको प्राप्त होकरभी उन्होंमें स्नेहकी इच्छा न करै और अपना शरीरसे उत्पन्न हुआ स्नेहकोभी ज्ञान अर्थात् भोग्य पदार्थ अनित्यहै ऐसे ज्ञान निवृत्त करै ॥ १७ ॥

ज्ञानान्वितेषु युक्तेषु शास्त्रज्ञेषु कृतात्मसु ॥
न तेषु सज्जते स्नेहः पद्मपत्रेष्विवोदकम् ॥ १८ ॥

अर्थ--ज्ञानवाले अर्थात् नित्य अनित्यका विवेकवाले युक्त अर्थात् नित्य वस्तुकी प्राप्तिके लिये उद्यम करतेहुये शास्त्रको जाननेवाले और कृतात्मा अर्थात् ध्यानसे सस्कृतहुआ चित्तवाले ऐसे मनुष्योंमें स्नेह संग नहीं करता जैसे कमलके पत्तोंपै पानी ॥ १८ ॥

रागाभिभूतः पुरुषः कामेन परिकृष्यते ॥
इच्छा संजायते तस्य ततस्तृष्णा विवर्धते ॥ १९ ॥

अर्थ--राग अर्थात् रम्यवस्तुको देखनेमें चित्तका खिलना इस्से पीडित हुआ मनुष्य उसको चाहता है उसकी प्राप्ति होनेमें रुचिके अत्यंत पनेसे उसके वारंवार लाभमें तृप्ति नहीं होती वह तृष्णा बढती है ॥ १९ ॥

तृष्णाहि सर्वपापिष्ठा नित्योद्वेगकरी स्मृता ॥

अधर्मबहुला चैव घोरा पापानुबन्धिनी ॥ २० ॥

अर्थ--सबोंमें अत्यन्त पापवाली नित्य प्रति उद्वेग करनेवाली बहुत अधर्मवाली घोररूप और पापको करानेवाली ऐसी तृष्णा कही है ॥ २० ॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ॥
योसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् २१

अर्थ--दुष्टबुद्धिवालोंसे जो दुस्त्यज है अर्थात् त्यागी नहीं जाती बुढापासे युत हुआके बूढी नहीं होती और जो प्राणनाश-पर्य्यंत रोग है वह तृष्णा है उसको त्यागनेवालोको सुख होता है॥

अनाद्यन्ता हि सा तृष्णा अन्तर्देहगता नृणाम् ॥
विनाशयति भूतानि अयोनिज इवानलः ॥ २२ ॥

अर्थ--वह तृष्णा आदि अन्तसे रहित है अर्थात् तृष्णाकी मूल वासना अनादि है मनुष्योंके अन्तर्देह अर्थात् मनमें प्राप्त हुई तृष्णा प्राणियोंको नाशती है जैसे अत्यन्त तपाया लोहाका गोलारूप अग्नि ॥ २२ ॥

यथैधः स्वसमुत्थेन वह्निना नाशमृच्छति ॥
तथाऽकृतात्मा लोभेन सहजेन विनश्यति ॥ २३ ॥

अर्थ--जैसे अग्नि काष्ठसे उपजता है और काष्ठकोही जलाता है तैसे नहीं जीता हुआ चित्तवाला मनुष्य शरीरके साथ जन्म-लोभसे नष्ट हो जाता है ॥ २३ ॥

राजतः सलिलादग्नेश्चोरतः स्वजनादपि ॥
भयमर्थवतां नित्यं मृत्योः प्राणभृतामिव ॥ २४ ॥

अर्थ--राजासे पानीसे अग्निसे चोरसे और अपना मित्र तथा संबंधिसे द्रव्यवालोंको नित्यप्रति भय रहना है जैसे मृत्युसे प्राणियोंको ॥ २४ ॥

यथा ह्यामिषमाकाशे पक्षिभिः श्वापदैर्भुवि ॥
भक्ष्यंते सलिले मत्स्यैस्तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥ २५ ॥

अर्थ--जैसे आकाशमें मासको पक्षी खातेहैं पृथिवीमें गाडिया गीदड आदि मांसको खातेहैं पानीमें मछली मांसको खातीहै तैसे सब जगहं धनवान् खाया जाताहै ॥ २५ ॥

अर्थ एवहि केषांचिदनर्थं भजते नृणाम् ॥
अर्थः श्रेयसि चासक्तो न श्रेयो विन्दते नरः ॥ २६ ॥

अर्थ--कितनेक मूढ और बुद्धिमान मनुष्योंको भी धन अत्यंत कल्याण कारक नहींहै धनसाध्य ज्योतिष्टोम अर्थात् सोमयाग आ-दि यज्ञमें आसक्त हुआ मनुष्य कल्याणको नही प्राप्त होताहै २६

तस्मादर्थागमाः सर्वे मनोमोहविवर्धनाः ॥
कार्पण्यं दर्पमानौ च भयमुद्वेग एव च ॥ २७ ॥

अर्थ--तिस कारणसे सब धनके आगम मनमें मोह बढातेहैं कृपणपना दर्प अर्थात् दूसरेके तिरस्कारकी इच्छामान अ-र्थात् मैंही श्रेष्ठहूं यह बुद्धि भय उद्वेग अर्थात् चित्तका बिगडा रहना ये सब धनसे होतेहैं ॥ २७ ॥

अर्थजानि विदुः प्राज्ञा दुःखान्येतानि देहिनाम् ॥
अर्थस्योत्पादनेचैव पालने च तथाक्षये ॥ २८ ॥

अर्थ--मनुष्योंको धन पैदा करनेमें धनकी रक्षा करनेमें

और धनके नाशमें धनसे उपजे ये दुःख पंडितोंने कहेहैं ॥२८॥

सहन्तिच महद्दुःखं घ्नन्ति चैवार्थकारणात् ॥
अर्थाद्दुःखं परित्यक्तं पालिताश्चैव शत्रवः ॥ २९ ॥

अर्थ -धनवाले मनुष्य बहुत दुःखको सहतेहैं और धनके कारणसे आपसमें मारतेहैं धनको त्यागनेकी इच्छा करनेमें दुःख होताहै और रक्षित किये धन शत्रु होजातेहैं ॥ २९ ॥

दुःखेन चाधिगम्यन्ते तस्मान्नाशं न चिन्तयेत् ॥
असंतोषपरा मूढाः सन्तोषं यान्ति पण्डिताः ॥ ३० ॥

अर्थ- दुःखसे धन पैदा किये जातेहैं तिसकारणसे धनको इकट्ठा करने आदि दुःखको नही चितवन करै नहीं संतोषवाले मूढ होतेहैं पंडित संतोषको प्राप्त होताहै॥ ३०॥

अन्तो नास्ति पिपासायाः संतोषः परमं सुखम् ॥
तस्मात्संतोषमेवेह परं पश्यन्ति पण्डिताः ॥ ३१ ॥

अर्थ--तृष्णाका अंत नहींहै संतोष परम सुखहै तिसकारणसे पंडित संतोषकोही उत्तम देखतेहैं ॥ ३१ ॥

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं रत्नसञ्चयः ॥
ऐश्वर्य्यं प्रियसंवासो गृध्येत्तत्र न पण्डितः ॥ ३२ ॥

अर्थ--यौवन रूप जीवना रत्नोंका संचय ऐश्वर्य्य और प्रियसं-वास अर्थात् प्यारोंमें वसना ये सब अनित्य है तहां पंडित आसक्त नहीं हो ॥ ३२ ॥

त्यजेत सञ्चयांस्तस्मात्तज्जान्क्लेशान् सहेत च ॥
नहि सञ्चयवान्कश्चिद्दृश्यते निरुपद्रवः ॥

अतश्च धार्मिकैः पुंभिरनीहार्थः प्रशस्यते ॥ ३३ ॥

अर्थ- तिसकारणसे धनको त्यागै धनत्यागसे उपजे क्लेशोंको सहै धनवाला मनुष्य कोईभी उपद्रवरहित नहीं दीखता इसलिये धार्मिक पुरुषोंने यदृच्छासे प्राप्त हुआ धन उत्तम मानाहै ॥ ३३ ॥

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता ॥
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य श्रेयो न स्पर्शनं नृणाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ -जिसको धर्मके लिये धनकी इच्छाहै उसको धनकी इच्छा नही करनी उत्तम है क्योंकि मनुष्योको गार लगाके धो- नेसे नही गार लगानाही अत्यंत उत्तमहे ॥ ३४ ॥

युधिष्ठिरैवं सर्वेषु न स्पृहां कर्त्तुमर्हसि ॥
धर्मेण यदि ते कार्य्यं विमुक्तेच्छो भवार्थतः ॥ ३५ ॥

इति शौनकगीता समाप्ता ॥ २ ॥

इति द्वितीयं प्रकरणम् ॥२॥

अर्थ--हे युधिष्ठिर इस प्रकार धनयौवन आदि सबोंमे तू नही इच्छा करनेको योग्यहै जो तुझको धर्म्मसे कार्य्यहै तो धनमें इच्छा मतकरै ॥ ३५ ॥

इति श्रीरोहतकप्रदेशान्तर्गतबेरीग्रामनिवासिगौडवंशा-
वतंसविविधशास्त्रपरमपण्डितश्रीशिवसहायपुत्र
रविदत्तशास्त्रिविरचितपञ्चदशगीताभावदी-
पकभाषाटीकायां शौनकगीतासमाप्ता ॥ २ ॥
यहां द्वितीय प्रकरण समाप्त हुआ ॥ २ ॥

अथ अष्टावक्रगीता ॥

लोमशउवाच--यः कथ्यते मंत्रविदग्धबुद्धिरौद्दालकिः श्वेतकेतुः पृथिव्याम्॥तस्याश्रमं पश्यनरेन्द्र पुण्यं सदाफलैरुपपन्नं महीजैः ॥ १ ॥ साक्षादत्र श्वेतकेतुर्ददर्श सरस्वतीं मानुषदेहरूपाम् ॥ वेत्स्यामिवाणीमिति संप्रवृत्तां सरस्वती श्वेतकेतुर्बभाषे ॥ ॥ २ ॥ अस्मिन्युगे ब्रह्मकृतांवरिष्ठावास्तां मुनी मातुलभागिनेयौ ॥ अष्टावक्रश्चैव कहोड़सूनुरौद्दालकिः श्वेतकेतुःपृथिव्याम् ॥ ३ ॥

अथ अष्टावक्रगीता कहतेहैं ॥

अर्थ--लोमश मुनि राजा युधिष्ठिरको कहतेहैं- पृथिवीमें मंत्रों से विदग्ध हुई बुद्धिवाला उद्दालकका पुत्र जो श्वेतकेतु कहा जाताहै हे राजन् सबकाल वृक्षोसे सपन्न और पवित्र ऐसा आश्रम उसका है देख ॥ १ ॥ यहां मनुष्यका देहरूपवाली सरस्वतीको श्वेतकेतु साक्षात् देखता भया वाणीको जानूंगी ऐसे प्रवृत्त हुई सरस्वतीको श्वेतकेतु कहता भया॥ २ ॥इसी युग जे ब्रह्मवेत्ताओंमें अत्यंत उत्तम कहोड मुनिका पुत्र अष्टावक्र और उद्दालकका पुत्र श्वेतकेतु ये मुनि मामा भानजा पृथिवीमें हुये ॥ ३ ॥

विदेहराजस्य महीपतेस्तौ विप्रावुभौ मातुलभागिनेयौ ॥ प्रविश्य यज्ञायतनं विवादे बंदिं निजग्राहतुरप्रमेयौ ॥ ४ ॥ उपास्वकौंतेय सहानुजस्त्वं तस्याश्रमं पुण्यतमं प्रविश्य॥ अष्टावक्रं यस्यदौहित्रमाहु

योसौबंदिंजनकस्याथ यज्ञे ॥५॥ वादी विप्राग्र्योबाल
एवाभिगम्यवादेभंक्त्वामज्जयामास नद्याम् ॥ ६ ॥
युधिष्ठिरउवाच--कथंप्रभावः सबभूव विप्रस्तथाभूतं
यो निजग्राहबंदिम् ॥ अष्टावक्रः केनचासौबभूव
तत्सर्वं मे लोमश शंसतत्वम् ॥ ७ ॥

अर्थ-- राजा जनकके यज्ञभवनमें दोनों मामा भानजा प्रवेशकर विवादमें बंदिको जीतते भये ॥ ४ ॥ हे कुंतीका पुत्र भाइयों सहित उसका अत्यंत पवित्र आश्रममें प्रवेशकर सेवाकर जिसका अष्टावक्र दौहित्र हुआ जो जनकके यज्ञमें ॥ ५ ॥ वादीब्राह्मणोंमें उत्तम और बालक ऐसा अष्टावक्र वादमें नदी विषे वंदिको डुबुताभया ॥ ६ ॥ युधिष्ठिर बोला-हेलोमश वह ब्राह्मण कैसा प्रभाववाला हुआ जो वादिरूप बंदिको जीतता भया और किस कारणसे भया यह संपूर्ण तत्त्व मुझको कहो ॥ ७ ॥

लोमश उवाच ॥ उद्दालकस्य नियतः शिष्य एको ॥
नाम्ना कहोड इति विश्रुतोभूत् ॥ शुश्रूषुराचार्य-
वशानुवर्ती दीर्घ कालंऽसोध्ययनं चकार ॥८॥
तंवै विप्रः पर्य्यचरत्स शिष्यस्तां चज्ञात्वा
परिचर्य्यां गुरुः सः ॥ तस्मै प्रादात्सद्य एव श्रुतं
च भार्यांच वै दुहितरं स्वां सुजाताम् ॥ ९ ॥
तस्या गर्भः समभवदग्निकल्पः सोऽधीयानं
पितरं चाप्युवाच ॥ सर्वांरात्रिमध्ययनं करोषि ने-
दं पितः सम्यगेवोपवर्तते ॥ १० ॥

उपालब्धः शिष्यमध्ये महार्षिः सतंकोपादुदर-
स्थं शशाप ॥ यस्मात् कुक्षौ वर्तमानो ब्रवीषि
तस्माद्वक्रो भवितास्यष्टकृत्वः ॥ ११ ॥

अर्थ--लोमश कहते हैं--उद्दालकका निरंतर शिष्य शुश्रूषा करनेवाला आचार्यके वशमें रहनेवाला ऐसा कहोड़ नामसे विख्यातहुआ वह बहुत कालतक पढता रहा ॥ ८ ॥ वह गुरुकी टहल करता रहा उस टहलको जान गुरु उस्को वेदविद्या और अपनी सुजाता नामवाली पुत्रीको भार्याके लिये देता भया ॥ ९ ॥ उसके अग्निके समान गर्भ हुआ वह पढता हुआ पिताको बोला हे पितः सपूर्ण रात्रि पढता है यह ठीक वर्त्ताव नहीं है ॥ १० ॥ शिष्योंके मध्यमें वह कहोड़ महर्षि गर्भके बोलनाको अनुचित जान कोपसे पेटमें स्थित हुआको शाप देता भया जिस कारणसे कुक्षिमे स्थित हुआ बोलता है तिस्से आठ अंगोंमे वक्रवाला होगा ॥

सवै तथा वक्र एवाभ्यजायदष्टावक्रः प्रथितो वै
महार्षिः॥अस्यासीद्वै मातुलः श्वेतकेतुः स तेन तुल्यो
वयसा बभूव ॥ १२ ॥ संपीड्यमानातु तदा सुजाता
सावर्धमानेन सुतेन कुक्षौ ॥ उवाच भर्तारमिदं रहो-
गता प्रसाद्यहीनं वसुनाधनार्थिनी ॥ १३ ॥ कथं
करिष्याम्यधुनामहर्षे मासश्चायं दशमो वर्त्तते मे ॥
नैवास्ति ते वसुकिञ्चित्प्रजाता येनाहमेतामापदं
निस्तरेयम् ॥ १४ ॥ उक्तस्त्वेवं भार्यया वै कहोडो

वित्तस्यार्थे जनकमथाभ्यगच्छत् ॥सवै तदा वादविदा निगृह्य निमज्जितो बंदिनेहाप्सु विप्रः ॥ १५ ॥

अर्थ -वह वक्रही जन्मा पृथ्वीमें अष्टावक्र नामसे विख्यात हुआ उसका मामा श्वेतकेतु उसीकी अवस्थाके समान होता भया ॥१२॥ कुक्षिमें बढताहुआ गर्भसे पीडित हुई सुजाता एकान्तमें धनको चाहनेवाली धनसे हीन हुआ पतिको प्रसन्न कर बोली ॥ १३ ॥हेमहर्षे धनसे रहित हुई मै कैसे करू मुझको दशमां महीना वर्तता है तेरे पास कुछभी धन नहीं है जिसकरके प्रसूत हुई मैं इस आपतको तिरूं ॥ १४ ॥ इसप्रकार भार्याने कथित किया कहोडमुनि धनके लिये जनकके पास गया वह वादको जाननेवाला बंदिने जीतकर जलमें डुबो दिया ॥ १५ ॥

उद्दालकस्तं तु तदा निशम्य सूतेनवादेऽप्सुनिमज्जितं तथा ॥ उवाच तां तत्र ततः सुजातामष्टावक्रे गूहितव्योयमर्थः ॥ १६ ॥ ररक्ष सा चापि तमस्य मंत्रं जातोप्यसौ नैव शुश्राव विप्रः ॥उद्दालक पितृवच्चापि मेने तथाष्टावक्रो भ्रातृवच्छ्वेतकेतुम् ॥ १७ ॥ ततो वर्षे द्वादशे श्वेतकेतुरष्टावक्रं पितुरंके निषण्णम् ॥ अपाचकर्ष गृह्य पाणौ रुदंतं नायंतवांकः पितुरित्युक्तवांश्च ॥ १८ ॥ यत्तेनोक्तं दुरुक्तं तत्तदानीं हृदि स्थितं तस्य सुदुःखमासीत् ॥ गृहं गत्वा मातरं सोभिगम्य पप्रच्छेदं क्वनु तातो ममेति ॥ १९ ॥

अर्थ--बंदिने पानीमें डुबोदिया यह सुनकर उद्दालक सुजाता-

को बोला कि यह वृत्तांत अष्टावक्रसे छिपाया रखना ॥ १६ ॥ वह सुजाता इस वृत्तांतको गुप्त रखती भई जन्मलिया पीछे अष्टावक्रने सुना नहीं इसलिये उद्दालकको पिता और श्वेतकेतुको भाई मानने लगा ॥ १७ ॥ पीछे बारहवां वर्षमें श्वेतकेतु उद्दालककी गोदमें बैठा हुआ अष्टावक्रको हाथको पकड रोवता हुआको बोला कि तेरा पिताकी यह गोद नहींहै ॥ १८ ॥ उसका दुष्ट वचन अष्टावक्रके हृदयमें स्थितहुआमें दुःख देनेलगा तब घर जाकै माताके समीप पूछने लगा कि मेरा पिता कहांहै ॥ १९ ॥

ततः सुजाता परमार्तरूपा शापाद्भीता सर्वमेवाचचक्षे ॥ तद्वै तत्वं सर्वमाज्ञाय रात्रावित्यब्रवीच्छ्वेतकेतुं स विप्रः ॥ २० ॥ गच्छावयज्ञं जनकस्य राज्ञो वह्वाश्चर्यः श्रूयते तस्य यज्ञः ॥ श्रोष्यावोत्र ब्राह्मणानां विवादमर्थं चाग्र्यं तत्र भोक्ष्यावहे च ॥ २१ ॥ विचक्षणत्वंच भविष्यते नौ शिवश्चसौम्यश्चहि ब्रह्मघोषः ॥ २२ ॥ तौ जग्मतुर्मातुलभागिनेयौ यज्ञं समृद्धं जनकस्य राज्ञः॥अष्टावक्रः पथि राज्ञा समेत्य प्रोत्सार्य्यमाणो वाक्यमिदं जगाद ॥ २३ ॥

इत्यष्टावक्रगीतायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इति तृतीयं प्रकरणम् ॥ ३ ॥

अर्थ-तदनंतर बहुत पीडित हुई सुजाता शापसे डरतीहुई संपूर्ण वृत्तांत कहती भई उस संपूर्ण तत्वको जान रात्रिमें अष्टावक्र श्वेतकेतुसे कहने लगा ॥ २० ॥ जनक राजाके यज्ञको

चलेंगे उसका यज्ञ बहुत आश्चर्य्यवाला सुनाजाताहै यहा ब्राह्म-णोंका विवाद सुनेंगे और उत्तम पदार्थको भोगेंगे ॥ २१ ॥ हम दोनोंको पंडितपना होगा पवित्र और सौम्य वेदका घोष होगा ॥ २२ ॥ वे दोनों मामा भानजा जनक राजाके सपन्न यज्ञको गये मार्गमें वेगसे चलताहुआ अष्टावक्र राजा जनकसे मिल यह वचन बोला ॥ २३ ॥

यहां अष्टावक्र गीतामें पहला अध्याय
समाप्त हुआ ॥ १ ॥

यहां तृतीय प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

अन्धस्य पन्था बधिरस्य पन्थाः स्त्रियः पन्था
भारवाहस्य पन्थाः ॥ राज्ञः पन्था ब्राह्मणेना-
समेत्य समेत्य तु ब्राह्मणस्यैव पन्थाः ॥ १ ॥

अर्थ—अंधाको मार्ग देना बहराको मार्ग देना स्त्रीको मार्ग देना वोझावालाको मार्ग देना राजाको मार्ग देना ये सब क्रमसे मार्ग अर्थात् रास्तादेनेके अधिकारी हैं और राजाके समीप ब्राह्मण आताहो तो राजानें ब्राह्मणको रास्ता देना ॥ १ ॥

राजोवाच—पन्था अयं तेद्य मयातिदिष्टो येनेच्छसि
तेन कामं व्रजस्व ॥ न पावको विद्यते वै लघीयानिन्द्रो-
पि नित्यं नमते ब्राह्मणा नाम् ॥ २ ॥

अर्थ--राजा कहने लगा--यह रास्ता मैंने आपको दिया जिस रास्तासे जानेकी इच्छा हो उसी रास्तासे इच्छापूर्वक गमनकर अग्नि अत्यंत अल्पभी अल्प नहीं होताहै क्योंकि इन्द्रभी नित्य

प्रति ब्राह्मणोंको नमताहै तो मुझसरीखा मनुष्यकी कौन कथाहै २

अष्टावक्र उवाच--प्राप्तौस्व यज्ञं नृपसंदिदृक्षू कौतूहलं नौ बलवन्नरेन्द्र॥प्राप्तावितिथीप्रवेशं कांक्षावहे द्वारपतेस्तवाशाम् ॥ ३ ॥ ऐन्द्रद्युम्ने यज्ञदृशाविहावां विवक्षूवै जनकेन्द्रं दिदृक्षू॥तौवै क्रोधव्याधिना दह्यमाना वयं चनौ द्वारपालो रुणद्धि ॥ ४ ॥

अर्थ--अष्टावक्रबोला--हे राजन् यज्ञ देखनेकी इच्छावाले हम दोनों प्राप्त भयेहैं हे नरेन्द्र हमको बहुत आश्चर्यहै हम दोनों अतिथि हैं प्रवेश होना चाहतेहैं आपके द्वारपालकी आज्ञा चाहतेहैं ॥ ३ ॥ हे जनक यज्ञको देखनेंकी इच्छावाले हम दोनोंहैं जनकेन्द्रको कहनेंकी इच्छावाले और देखनेंकी इच्छावाले क्रोधरूपी व्याधिसे जलतेहुयेहैं हम दोनोंको द्वारपाल रोकताहै ॥ ४ ॥

द्वारपाल उवाच--बन्देः समादेशकरा वयं स्म निबोध वाक्यं च मयेर्य्यमाणम्॥नवै बालाः प्रविशन्त्यत्र विप्रा वृद्धा विदग्धाः प्रविशन्त्यत्र विप्राः॥ ५ ॥

अर्थ--द्वारपाल कहने लगा--हम सब बंदिकी आज्ञा करनेंवाले हैं मेरा वाक्यको सुन इस यज्ञमें बालक ब्राह्मण नहीं जासक्ते किंतु यहां वृद्ध और तपस्वी ब्राह्मण जासक्तेहैं ॥ ५ ॥

अष्टावक्र उवाच--यद्यत्र वृद्धेषु कृतः प्रवेशो युक्तं प्रवेष्टुं मम द्वारपाल॥वयांहि वृद्धाश्चरितव्रताश्च वेदप्रभावेण समन्विताश्च ॥ ६ ॥ शुश्रूषवश्चापि जितेन्द्रिया-

श्च ज्ञानागमे चापिगताः स्मनिष्ठाम्॥नबाल इत्येवम-
न्तव्यमाहुर्बालोप्यग्निर्दहति स्पृश्यमानः ॥ ७ ॥

अर्थ–अष्टावक्र बोला-जो यहां वृद्ध जाय सक्तेहैं तो हे द्वार-
पाल मेरा प्रवेश होना योग्यहै क्योंकि हम व्रतको धारण किये
हुयेहैं और वेदके प्रभावसे युतहै इसलिये हम दोनों वृद्धहैं ॥ ६ ॥
गुरुकी शुश्रूषा करनेवालेहैं जितेंद्रियहैं और वेदान्तशास्त्रमें
निश्चयको प्राप्त हुयेहैं बालक मत जानो बालक अग्निभी स्पर्श
करा हुआ जलाताहै ॥ ७ ॥

द्वारपाल उवाच–सरस्वतीमीरय वेदजुष्टामेकाक्षरां
बहुरूपां विराजम् ॥ अङ्गात्मानं समवेक्षस्व बालं
किंश्लाघसे दुर्लभो वै मनीषी ॥ ८ ॥

अर्थ–द्वारपाल कहने लना–हे अंग जो तू जानताहै तो मुनि-
योंसे सेवितकरी ब्रह्महै प्रतिपाद्य जिसमें मंत्रके अर्थका वाद आदि-
रूप और विशेषकर कर्मकांड आदिकी अधिकतासे प्रकाशितं
हुई ऐसी वाणीको कह अपनेको बालक देख क्या प्रशंसा
करताहै बुद्धिमान् दुर्लभहै ॥ ८ ॥

अष्टावक्र उवाच–न ज्ञायते कायवृद्ध्याविवृद्धिर्यथा
ष्ठीलाशाल्मलेः संप्रवृद्धा ॥ ह्रस्वोल्पकायः फलितो
विवृद्धो यश्चाफलस्तस्य न वृद्धभावः ॥ ९ ॥

अर्थ–अष्टावक्र बोला–शरीरके बढनेसे वृद्धि नहीं जानी
जाती जैसे शंभलका फलके भीतर गांठ सारसहित होतीहै तैसे

अल्प शरीरवालाभी वृक्ष फला हुआ विशेष कर वृद्ध होताहै और जो फलोंसे रहितहो वह वृद्ध नहीं माना जाता ॥ ९ ॥

द्वारपाल उवाच—वृद्धेभ्य एवेह मतिं स्म बाला गृह्णंति कालेन भवन्ति वृद्धाः ॥ नहि ज्ञानमल्पकालेन शक्यं कस्माद्बालः स्थविर इव प्रभाषसे ॥ १० ॥

अर्थ—द्वारपाल कहनेलगा--बालक वृद्धोंसे बुद्धिको ग्रहणकर समय पाकर वृद्ध होजातेहैं अल्प कालसे ज्ञान नहीं प्राप्त होसक्ता किसवास्ते तू बालक होकर वृद्धकी तरह बोलताहै ॥ १० ॥

अष्टावक्र उवाच—न तेन स्थविरो भवति येनास्य पलितं शिरः॥बालोपि यः प्रजानाति तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ ११ ॥ न हायनैर्न पलितैर्न वित्ते न नवंधुभिः॥ ऋषयश्चक्रिरे धर्म्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥१२॥ दिदृक्षुरस्मिसंप्राप्तो बन्दिनं राजसंसदि ॥ निवेदयस्व मां द्वाःस्थ राज्ञे पुष्करमालिने ॥ १३ ॥ द्रष्टास्यद्यवदतोस्मान्द्वारपालमनीषिभिः॥सहवादे समृद्धेतु बन्दिनं चापि निर्जितम् ॥ १४ ॥ पश्यन्तु विप्राः परिपूर्णविद्याः सहैव राज्ञा सपुरोधमुख्याः ॥ उताहो वाप्युच्चतांनीचतां वातूष्णींभूतेष्वेव सर्वेष्वथाद्य ॥ १५ ॥

अर्थ—अष्टावक्र बोला--जिसके शिरके बाल सुफेद हों वह वृद्ध नहीं कहाता किंतु बालकभी जो जाननेवाला हो उसको देवते वृद्ध कहते हैं ॥ ११ ॥ न वर्षोंसे न सुपेद बालोंसे न धनसे

और न भाईयोंसे वृद्ध अर्थात् बडा नहीं होता जो अंगोसहित ४ वेदको पढनेवाला हो वह ब्राह्मणोंमें बड़ा है ऐसा धर्म मुनियोंने किया है ॥ १२ ॥ राजाकी सभामें बंदिको देखनेकी इच्छावाला मैं प्राप्त हुआ हूं हे द्वारपाल सोनाकी मालाको धारण करनेवाला राजाके प्रती मुझें निवेदन कर ॥ १३ ॥ हे द्वारपाल अब पंडितोंके साथ बोलते हुये हमको देखेगा सह वाद बढनेमें बंदिको भी जीता हुआ देखेगा ॥ १४ ॥ सब चुप होनेमें परिपूर्ण विद्यावालें ब्राह्मण पुरोहित सहित राजा ऊंचापनको अथवा नीचापनको अब देखेंगे ॥ १५ ॥

द्वारपाल उवाच--कथं यज्ञं दशवर्षो विशेस्त्वं विनीतानां विदुषां संप्रवेशम् ॥ उपायतः प्रयतिष्ये तवाहं प्रवेशने कुरु यत्नं यथावत् ॥ १६ ॥

अर्थ—द्वारपाल कहने लगा--परीक्षित हुये विद्वानोंका जहां प्रवेश होता है उस यज्ञमें दशवर्षकी अवस्थावाला तू कैसें प्रवेश करेगा अर्थात् नहींकर सक्ता तेरे प्रवेशके लिये उपाय करूंगा प्रवेशमे यथावत् जतन कर अर्थात् यज्ञ मण्डपसे अन्य जगह राजाको दिखाताहूं तहां राजाके आगे कुछ ज्ञानको प्रकाश कर ॥ १६ ॥

. अष्टावक्र उवाच-भो भोराजन् जनकानां वरिष्ठ त्वं वै सम्राट्त्वयि सर्वं समृद्धम् ॥ त्वं वै कर्ता कर्मणां याज्ञियानां ययातिरेको नृपतिर्वा पुरस्तात् ॥ १७ ॥

अर्थ—अष्टावक्र बोला--जनकोंमें अत्यंत उत्तम हे हे राजन् आप चक्रवर्त्ती हो आप सब तरह सम्पन्न हो यज्ञ सम्बन्धी कर्मोंके

आप कता हो जैसे एक ययाति राजा आगे हुआ ॥ १७ ॥

वृद्धान् बन्दी वादविदो निगृह्य वादे भग्नानप्रति-
शंकमानः॥त्वयाभिसृष्टैः पुरुषैराप्तकृद्भिर्जले सर्वान्
मज्जयतीति नः श्रुतम् ॥ १८ ॥ सोहं श्रुत्वा ब्राह्म-
णानां सकाशे ब्रह्माद्वैतं कथयितुमागतोस्मि॥क्वासौ
बन्दी यावदेनं समेत्य नक्षत्राणीव सविता नाश-
यामि ॥ १९ ॥

अर्थ—वादको जाननेवाले और वादमें पराजित हुये ऐसे वृद्धोंको वादमें जीत आपकी आज्ञाकारक सेवकोंसे जलमें डुबवाता है ऐसे मैंने सुनाहै ॥ १८ ॥ ब्राह्मणोंसे सुन मैं अद्वैत ब्रह्म कहनेको आयाहूं यह बंदी कहां है जबतक उस्से समागम कर नक्षत्रोंको सूर्य्यकी तरह नाशूं ॥ १९ ॥

राजोवाच—आशंससे बंदिनं वै विजेतुमविज्ञायत्वं
वाक्यबलं परस्य ॥ विज्ञातवीर्यैः शक्यमेवं प्रवक्तुं
दृष्टश्चासौ ब्राह्मणैर्वेदशीलैः ॥ २० ॥

अर्थ—राजा कहने लगा--दूसरेके वाक्यके बलको नहीं जानकर बंदीको जीतनेके लिये कहताहै अपने बलको जाननेवाले ऐसे कह सक्तेहैं वेदपाठी ब्राह्मणोंने यह बंदी देखाहै॥ २०॥

आशंससे त्वं बन्दिनं वै विजेतुमविज्ञात्वा तु बलं
बन्दिनोस्य॥समागता ब्राह्मणास्तेन पूर्वं न शोभन्ते
भास्करेणेव ताराः ॥ २१ ॥ आशंसन्तो बन्दिनं जे-
तुकामास्तस्यान्तिकं प्राप्य विलुप्तशोभाः॥विज्ञान-

मत्ता निःसृताश्चैव तात कथं सदस्यैर्वचनं विस्त
रेयुः ॥ २२ ॥

अर्थ–बंदीके बलको नही जानकर तू बंदीको जीतना मानताहै पहले बंदीके साथ ब्राह्मणोंका समागम हुआ है जैसे सूर्यके साथ तारा नहीं शोभित होते तैसे बंदीके साथ ब्राह्मण जानने ॥ २१ ॥ हे प्रिय बंदीको जीतनेकी इच्छावाले ब्राह्मण तेरी तरह कहते हुये बंदीके समीप प्राप्त होकर नष्ट हुई शोभावाले विज्ञानसे मत्त हुये और कैसे सभासदोंके सम्मुख वचन कहे ऐसे विचारतेहुए सभासे निकास गये ॥ २२ ॥

अष्टावक्र उवाच -विवादितोसौ नहि मादृशैर्हि सिंही-
कृतस्तेन वदत्यभीतः ॥ समेत्य मां निहतःशेप्यतेऽद्य
मार्गेभग्नं शकटमिवाचलाक्षम् ॥ २३ ॥

अर्थ–अष्टावक्र बोले--मेरा सरीखोंसे बंदीका विवाद नहीं हुआहै उस करकै समर्थ हुआ वह निर्भय बोलताहै मुझसे मिलकर अब पराजित हुआ बंदी सोवेगा जैसे मार्गमे टूटाहुआ पहियांवाला गाडा ॥ २३ ॥

राजोवाच--त्रिंशकद्वादशांशस्य चतुर्विंशतिपर्वणः ॥
यस्त्रिषष्टिशतारस्य वेदार्थं स परः कविः ॥ २४ ॥

अर्थ--अद्वैत ब्रह्म कहनेंको मैं आयाहूं ऐसे जाननेंवाले अष्टावक्रको राजा कहने लगा--दोनों तर्फसे छहशलाकाओंको अलग अलग एकशंकुमें लगानेसे बारह अरोंवाला छह नाभियांवाला चक्र बन जाताहै तहां बारह राशि अरेहै दो दो राशियों

वाली छह ऋतु नाभिहै एक एक राशिमें तीसतीस अंशहैं-वह यह भचक्रहै साठ घडियोंसे परिवर्तित होताहै इन ३६० भचक्रोंका सावन संवत्सर होताहै इस चक्रमें कुह्मारका चाककी तरह प्रदक्षिणा करतेहुये पिपीलिका अर्थात् कीडियोंकी पंक्तिके तरह प्रतीपरूप सूर्य्यआदि भ्रमतेहैं तहां २७ दिन रात्रियों-करकै चंद्रमा भगणको भोगताहै ३६५ दिनरात्रियों-करकै सूर्य्य भगणको भोगताहै वही सौर संवत्सरहै इस चक्रमें अपनी अपनी गतिसे चलते हुये चंद्रमा सूर्य्य अत्यंत दूर होतेहैं तब पौर्णमासी होतीहै और जब चंद्रमा सूर्य्य अत्यंत समीप होतेहैं तब दर्श अर्थात् अमावास्या होतीहै वे दो पर्वहै ऐसे २४ पर्वोंसे ३५४ दिनोंका चांद्र संवत्सर होताहै उन तीनोंको राजा पूछताहै तीनोंको अलग अलग कर्म्मोंमें विनियोग होनेसे व्रत आदि और राजतिलक आदिमें चांद्रसंवत्सर लिया जाताहै यज्ञोपवीत विवाहआदिमें सौरसंवत्सर लिया जाताहै गोसत्र आदिमें सावन संवत्सर लिया जाताहै--त्रिंशकद्वादशांशस्य-तीसका गण त्रिंशक होताहै वेहीहै बारह संख्यावाले अंश जिसकै ऐसा सौर संवत्सरको पूछताहै--चतुर्विंशतिपर्वणः-चौवीसहै पर्व जिसमें ऐसा चांद्र संवत्सरको पूछताहै-त्रिषष्टिशतारस्य--३६० आरे हैं जिसमें ऐसा सावन संवत्सरको पूछताहै--इस तीन प्रकार-का कालचक्रके प्रयोजनको जो जानताहै वह उत्तम पंडितहै ॥ २४

अष्टावक्र उवाच-चतुर्विंशतिपर्व त्वां षण्नाभि द्वा-
दशप्रधि॥तत्रिषष्टिशतारं वै चक्रं पातु सदागति॥२५॥

अर्थ—इसप्रकार पूछाहुआ अष्टावक्र उत्तर कहने लगा इस श्लोकका सब अभिप्राय पहले श्लोकके अर्थमें प्रकाशित किया है जो कि राजा जनकका अभिप्राय था-परंतु विशेष अर्थ कहनेसे विद्वत्ताका प्रकाश होताहै प्रथम सामान्यरूप जो अर्थ कहनेहैं बारह पौर्णमासी बारह अमावस ऐसे चौवीस पर्वहैं चौवीस पर्वों-वाला छः ऋतुरूप नाभियोंवाला बारह महीने अथवा बारह राशि-रूप अरोंवाला ३६० दिनरात्रि रूप अरोंवाला और सब कालमें चलनेवाला ऐसा कालचक्र तुह्मारी रक्षा करो-अब विशेष अर्थ कहतेहैं-चौवीस पर्व छः ऋतु बारह महीने तीनसौ साठ दिन इस कालचक्रमें जैसा कालहो उसके अनुसार विहित किया धर्म्म तुह्मारी रक्षाकरो इस करकै धर्मको मोक्षका साधन विधान किया क्योंकि केवल कालज्ञानको अपुरुषार्थता अर्थात् प्रयोजन-रहित होनेसे ॥ २५ ॥

राजोवाच--वडवे इव संयुक्ते श्येनपाते दिवौकसाम्॥
कस्तयोर्गर्भमाधत्ते गर्भं सुषुवतुश्च कम् ॥ २६ ॥

अर्थ—राजा कहने लगा—रथमें जुडी दो घोडियोंकी तरह साथ चलनेवाली शिकरा अर्थात् बाजकी तरह स्वभावसे गिरतीहुई ये दोनों वर्ततीहै उन दोनोंका संबंधी गर्भको देवतोंके मध्यमें कौन धारताहै किसके गर्भमें वे उत्पन्न होतीहै और किसको जन्मातीहै ॥ २६ ॥

अष्टावक्र उवाच—मास्म ते ते गृहे राजन् शात्रवाणामपि ध्रुवम्॥वातसारथिरागन्ता गर्भं सुषुवतुश्च तम्॥ २७ ॥

अर्थ--उन दोनोंके नाम अमंगलहै ऐसे मानकर अष्टावक्र परोक्षसे कहतेहैं-अधिदैव अर्थात् बीजली और वज्र अध्यात्म अर्थात् दुःख और मृत्यु ये दोनों क्रमकर आकाश और देहरूपी रथसे जुड़े नित्यप्रति घोडियोंकी तरह बाजकी तरह गिरती हुई तेरे घरमें और तुह्मारे शत्रुओंके घरमें मत पडो--वातसारथि अर्थात् मेघ और मन आकाशसे वृष्टिके लियें मेघ और सुषुप्ति नामक कारणसे कर्मफलको भोगनेके लियें मन आवेगा उसको पूर्वोक्त बिजली वज्र और दुःख मृत्यु गर्भमें धारण करते हैं यह एक उत्तर है औ वे दोनों अग्निको और मनको उपजाते हैं यह अन्य उत्तर है जैसे धूमज्योति आदि-के सन्निपातरूपपनासे अग्निरूप मेघ अग्निकोही बीजली आदिके द्वारा उपजाता है इसीप्रकार मनसे उपजे दुःख मृत्यु अपनी वा-सनाके रूप करके मनके कारण है तथाच बीजका अंकुरकी तरह मनको और दुःख आदिको हेतुहेतुमद्भावसे मनको लय करनेका अभ्यास दुःखका अभावके लियें करना ॥ २७ ॥

राजोवाच--किंस्वित् सुप्तंननिमिषति किं स्विज्जातं
न चोपति॥कस्यचिद्धृदयं नास्ति किंस्विद्वेगेन वर्धते॥

अर्थ- राजा कहने लगा--सुषुप्ति अवस्थाको प्राप्त हुआ कौन आंखको नहीं मीचता है तत्काल जन्मा कौन गति नहीं होता किसको हृदय नहीं होता वेगसे कौन बढता है ॥ २८ ॥

अष्टावक्र उवाच--मत्स्यः सुप्तो न निमिषत्यंडं जातं
नचोपति॥अश्मनो हृदयं नास्ति नदी वेगेन वर्द्धते २९

अर्थ--अष्टावक्र बोला--सामान्य अर्थ कहते हैं सोता हुवा मच्छ आंख नहीं मीचता, तत्काल उपजा अंडा मन्दभी नहीं चलता पत्थरको हृदय नहीं होता, वेगसे नदी बढती है विशेष अर्थ कहते हैं मत्स्य सरीखा चित्‌रूप पुरुष जागृत् और स्वप्नअवस्थामें इसलोकमें और परलोकमें चलनेसे शान्त हुआ मत्स्यकी तरह दोनों कूलोंपे विचरनेसे सुप्ति और प्रलयमे कार्यकारण संघातकी संपूर्ण प्राणन आदि शक्तिके उपराममें नहीं शांत हुई दृष्टिकी शक्ति-वाला अकेलाही स्थित रहता है जात अर्थात् उत्पन्न हुआ अंड अर्थात् ब्रह्माण्ड भूत भौतात्मिक नहीं चेष्टा करता है किंतु यही उसको चेष्टा करवाता है अश्मन अर्थात् अशरीरके हृदय अर्थात् शोकका स्थान नहीं है नदी अर्थात् चित्तनदी व्यथित हुआ योगीके वेगसे शीघ्र सम्पूर्ण प्रपंचरूपसे बढती है ॥ २९॥

राजोवाच—नत्वां मन्ये मानुषं देवसत्वं नत्वं बालः
स्थविरः संमतो मे ॥ नते तुल्यो विद्यते वाक्प्रलापे
तस्माद्द्वारं वितराम्येष बंदी ॥ ३० ॥

इत्यष्टावक्रगीतायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इति चतुर्थ प्रकरणम्॥ ४ ॥

अर्थ—राजा बोला तुझको मैं मनुष्य नहीं मानता किंतु तू देवशरीरहै न तू बालकहै मुझको वृद्ध मानाहै वाणीके संलापमें तेरे समान कोई नहींहै तिसकारणसे दरवाजा खुलाताहूं यह बंदीहै आप देखिये ॥ ३० ॥

यहां अष्टावक्रगीतामें दूसरा अध्याय समाप्तहुआ ॥ २॥

यहां चतुर्थ प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

अष्टावक्र उवाच—अत्रोग्रसेनसमितेषु राजन् समागतेष्वप्रतिमेषु राजसु ॥ नावैमि बंदिं वरमत्र वादिनां महाजले हंसमिवाददामि ॥ १ ॥

अर्थ—अष्टावक्र बोला—हे राजन् यहां उग्रसेनके समान अप्रतिम राजोंके समागममें वादियोंविषै उत्तम बंदीको नहीं जानूंगा तो बहुत जलमें हंसकी तरह ग्रहण करूंगा ॥ १ ॥

न मेद्य वक्ष्यतिवादिमानिन् ग्लहं प्रपन्नः सरितामिवागमः॥हुताशनस्येव समिद्धतेजसः स्थिरो भवस्वेह ममाद्य बन्दिन् ॥२॥ व्याघ्रं शयानं प्राति मा प्रबोध आशीविषं सृक्किणी संलिहानम् ॥ पदाहतस्येह शिरोऽभिहत्य नादष्टोवै मोक्ष्यसे तन्निबोध ॥ ३ ॥ योवै दर्पात् संहननोपपन्नः सुदुर्बलः पर्वतमाविहन्ति॥तस्यैव पाणिः सनखो विदीर्यते नचैव शैलस्याहि दृश्यते व्रणः ॥ ४ ॥ सर्वे राज्ञो मैथिलस्य मैनाकस्येव पर्वताः॥निकृष्टभूता राजानो वत्सा ह्यनडुहो यथा ॥ ५ ॥ यथा महेन्द्रः प्रवरः सुराणां नदीषु गंगा प्रवरा यथैव ॥ तथा नृपाणां प्रवरस्त्वमेको बंदिं समभ्यानय मत्सकाशम् ॥ ६ ॥

अर्थ—हे अत्यंत वादको माननेवाला बंदिन् पराजित हुआ जलमें डबोया जावेगा इस पणको प्राप्त हुआ तू मेरे आगे प्रत्युत्तरको न कहेगा जैसे प्रलयकालमें अत्यंत दीप्त हुआ अग्निके आगे जैसे नदीका वेग शूकताहै तैसे तू शूकेगा यहां स्थिर हो

॥ २ ॥ जाडमें विषवाला ओठ प्रांतोंको चाटता हुआ ऐसा सोता हुआ सिंह मुझे तू जान मेरा पिताको जीतनेसे तैंने मैं पहलेही पैरेसे हत किया हूं ऐसे मेरा शिरपे लात मारके तूं विनाडरसे नही छुटेगा वह तू जान ॥ ३ ॥ जो बहुत दुर्बल दृढ शरीरसे युत हुआ पर्वतके हाथ मारताहै उसीका नखोंसहित हाथ फटताहै और पर्वतके घाव नहीं दीखता ॥ ४ ॥ जनक राजासे सब राजे छोटेहैं जैसे मैनाक-पर्वतके आगे अन्यपर्वत और जैसे बैलके आगे बच्छे ॥ ५ ॥ जैसे देवतोंमें इंद्र उत्तमहै नदियांमें गंगा उत्तमहै तैसे हे जनक राजाओंमें तूही एक उत्तमहै बंदीको मेरे समीप प्राप्तकर ॥ ६ ॥

लोमश उवाच--एवमष्टावक्रः समितौ हि गर्जन् जातक्रोधो बन्दिनमाह राजन् ॥ उक्ते वाक्ये वोत्तरं मे ब्रवीहि वाक्यस्य चाप्युत्तरं ते ब्रवीमि ॥ ७ ॥

अर्थ--लोमश मुनि कहतेहैं हे राजन् ! युधिष्ठिर इसप्रकार सभामें गर्जता हुआ अष्टावक्र क्रोधको प्राप्त हो बंदीको बोला तू मेरा वाक्यका उत्तर कह और तेरा वाक्यका मैं उत्तर कहूंगा ७॥

बंद्युवाच- एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध्यते एकः सूर्य्यः सर्वमिदं विभाति॥एको वीरो देवराजोरिहन्ता यमः पितॄणामीश्वरश्चैक एव ॥ ८ ॥

अर्थ--अष्टावक्रनें पहलें कहाहै कि अद्वैत ब्रह्म कहनेको आयाहूं बंदी वाद कथाके मुखसे प्रपंचित करता हुआ बंदीके मुखसे बौद्ध पक्षको उत्थापन कराताहै जैसे एक अग्नि अथवा

एक सूर्य्य अन्यसे आप नहीं प्रकाशित होताहुआ और अन्यको प्रकाशित करताहै इसी प्रकार देव अर्थात् इंद्रियोंका राजा अर्थात् प्रधानभूत धीधातुरहमिदम् इस आदि आकारसे प्रकाशमान वीर अरिहंता पराभिभावके तत्वका अंतराभिभाववाला यम अर्थात् सब इंद्रियोंका नियंता विषयके उपहारद्वारा पालनेवाले इंद्रियोंका ईश्वर अर्थात् भोक्ता कर्ता और प्रधानभूत एकहीहै अन्य पृथक्तत्व नहींहै क्योंकि स्वप्नमें सब क्रिया कारक आदिकोंके बुद्धिमात्रका उपलंभपनासे ऐसे तार्किक बंदीनें प्रथम बौद्धपक्ष लिया ॥ ८ ॥

अष्टावक्र उवाच--द्वाविन्द्राग्नी चरतो वै सखायौ द्वौ देवर्षी नारदपर्वतौ च ॥ द्वावश्विनौ द्वे रथस्यापि चक्रे भार्यापती द्वौ विहितौ विधात्रा ॥ ९ ॥

अर्थ--अष्टावक्र बोला--इंद्र और अग्नीकी तरह मित्र हुये संग विरचनेवाले दो नारद पर्वत देवर्षियोंकी तरह दो अश्विनी कुमारोंकी तरह दो रथके पहियोंकी तरह दो भार्या पतिकी तरह दो बुद्धि और ब्रह्म हैं ऐसे दो है दृश्य बुद्धिको द्रष्टृत्व संभव नहीं होता प्रकाशके योग्य पदार्थको प्रकाशत्वकी तरह स्वप्नमेंभी बाधित बोद्धासे अबाधित बोद्धा अन्यहै ॥ ९ ॥

बंद्युवाच--त्रिः सूयते कर्मणा वै प्रजेयं त्रयो युक्ता वाजपेयं वहन्ति ॥ अध्वर्यवस्त्रिसवनानि तन्वते त्रयो लोकास्त्रीणि ज्योतींषि चाहुः ॥ १० ॥

अर्थ--बंदी बोद्धाके कर्मके अधीन मान मीमांसकके मतको

कहताहै-देव स्थावर मनुष्य ये तीन जन्म सुकृतसे मिलतेहैं नारक स्थावर तिरहछीयोनि ये तीनों जन्म पापसे मिलतेहैं इसी कारणसे तात्पर्यसे सन्नद्ध हुयोंकी तरह तीनों वेद वाजपेयोपलक्षित आश्रमत्रयमें उचित संपूर्ण कर्मजातको वहतेहैं वेदकोभी कर्ममात्रपरत्वहै आध्वर्यु अर्थात् यज्ञके योक्ता प्रातः सवन आदि तीन कर्मोंको प्रकाशित करतेहैं तिस करके यथा जैसा कालहो उसके अनुसार किया कर्मका फल कालके अनुरोधीही होताहै तीन लोक अर्थात् स्वर्ग नरक भूमि ये भोगकी भूमिहै वेदमें ज्योतिवालोंकी ज्योति अर्थात् सुखमार्गप्रकाशक जाग्रत् आदि तीनहैं कर्म्मसे अन्य तत्व नहींहै ॥ १० ॥

अष्टावक्र उवाच--चतुष्टये ब्राह्मणानां निकेतं चत्वारो वर्णा यज्ञमिमं वहन्ति ॥ दिशश्चतस्रो वर्णचतुष्टयं च चतुष्पदा गौरपि शश्वदुक्ता ॥ ११ ॥

अर्थ--अष्टावक्र मीमांसक मतको दूषितकर बोला ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवेत्ताओंका निकेत अर्थात् ज्ञानकी प्राप्तिका स्थान चौथाहै अर्थात् तीन आश्रमोंसे मोक्षाश्रम अन्यहै-यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्-जिस दिन विरागहो उसी दिन संन्यासी होजावे चारों वर्ण यज्ञ अर्थात् ज्ञान यज्ञको प्राप्त होते हैं ज्ञानयज्ञमें अकर्मरूपपनासे शूद्रकाभी अधिकार है दिशा अर्थात् अवस्था चार है अर्थात् विश्व तैजस प्राज्ञ इन्होंसे अन्यभी है इसीवास्ते वर्ण चार हैं अर्थात् तिन्होंका वाचक चतुष्टय अकार उकार

मकारार्धमात्रारूप उत्पत्तिमें प्रसिद्ध है चार पादोंवाली गौ अर्थात् वाणी निरंतर कही है ॥ ११ ॥

बंद्युवाच- पंचाग्नयः पञ्चपदा च पंक्तिर्यज्ञाः पंचैवाथ पंचेंद्रियाणि ॥ दृष्टावेदे पंचचूडाप्सराश्च लोकेख्यातं पञ्चनदं च पुण्यम् ॥ १२ ॥

अर्थ--तुरीयअवस्थाको नहीं मानता हुआ बंदी कहने लगा कि गार्हपत्य दक्षिणाग्नी आहवनीय सभ्य आवसथ्य इनभेदोंसो अग्नि पांच प्रकारका है आठ अक्षरोंवाले पांचपादोंसे पंक्तिछंद होता है अग्निहोत्र दर्शपौर्णमास चातुर्मास्य सोम ये पांच यज्ञ है ये तीन पंचक है इसीप्रकार पांच इंद्रियशब्द आदि पंचकको ग्रहण करते हैं छठा विषय इन्द्रिय नहीं हैं वेदमें शरीरके आकार परिणत हुये जल प्रधान भूतोंमें फैलनेवाली अप्सरा अर्थात् चितिततस्तद्विषयाकारतासे प्रमाण विपर्य्यय विकल्प निद्रा स्मृति इन पांच वृत्तियोंके सारूप्यसे पांचशिखावाली देखी है समाधिका निद्रा वृत्तिमें अंतर्भाव है लोकमें पंचनद अर्थात् विषयके स्रोतोंका समाहार पवित्र है इस लिये चिच्छक्तिकोही कर्तृत्व भोक्तृत्व है ॥ १२ ॥

अष्टावक्र उवाच--षडाधाने दक्षिणमाहुरेके षट्चैवेमे ऋतवः कालचक्रम् ॥ षडिंद्रियाण्युत षट्कृत्तिकाश्च षट् साद्यस्काः सर्ववेदेषु दृष्टाः ॥ १३ ॥

अर्थ--अष्टावक्र बोला कर्तृत्वादिधर्मवाला छठा इन्द्रिय मन है सुषुप्तिमें भी अन्यकी तरह उसका लय नहींहोता दक्षिण आदि

मनको चक्षु आदिक सजातिपनामें दृष्टांत है आधानमें छः दक्षिणा कही है छः ऋतु हैं छः मन सहित इन्द्रिय हैं छः कृत्तिका हैं साद्यस्क अर्थात् यज्ञविशेषभी सब वेदोंमें छः देखे है ॥ १३ ॥

बंद्युवाच--सप्तग्राम्याः पशवः सप्त वन्याः सप्त च्छन्दांसि क्रतुमेकं वहन्ति ॥ सप्तर्षयः सप्त चाप्यर्हणानि सप्त तंत्री प्रथिता चैव वीणा ॥ १४ ॥

अर्थ--तर्कके मतसे बंदी कहने लगा मनसहित छः इंद्रिय और आत्मगुणभूतबुद्धि इन्होंसें समर्पित किये मंतव्यबोद्धव्य शब्द आदि विषय जिन्होंमें उन्होंविषैं एक एकमें आसक्त एक एक पुरुष पशुहै वे ग्राम्य अर्थात् इस लोकके अन्य अर्थात् परलोकके विषयहैं उन्होंमें आसक्तपनासे प्रत्येक सातसात पुरुष पशुहैं सात छंदहैं अर्थात् अपना अपना रूपको अर्पण करनेसे उपजा सुखके लेशसे परमात्मको गृहतेहैं उन सात विषयोंको एक क्रतु अर्थात् कर्ता आत्माको सप्तर्षि अर्थात् प्राण प्राप्त करते हैं मन आदि सात कहे उन्होंसे प्राप्तहुये अर्हण अर्थात् सुखहै जैसे सात तंत्रियोंसे वाजती हुई एकवीणा शब्दको प्रकाशतीहै ऐसे इन सातोंसे आत्मा सुखका अनुभव करताहै अन्यथा उसको कर्तृत्व नहीं रहता ॥ १४ ॥

अष्टावक्र उवाच--अष्टौ शाणाः शतमानं वदंति तथाष्टपादः शरभः सिंहघाती ॥ अष्टौ वसूञ्छुश्रुम देवता सुयूपश्चाष्टास्रोविहितः सर्वयज्ञे ॥ १५ ॥

अर्थ--कहे हुये सात कर्तृत्व आदि धर्मवाला अहंकारके

साथ आठोंको कहनेकी इच्छावाला अष्टावक्र इंद्रियविषय-रूप ग्रह अतिग्रहरूप बंधनको स्थितकर उस्से अन्य आत्माको पृथक्करता हुआ बोला शाण अर्थात् शणसे रची गोणीकी तरह इंद्रियोंके प्रवेशके योग्य आठ विषय अनंत मानको धारतेहैं संक्षेपसे आठभी अनंत विषयहै अष्टपाद अर्थात् विषय देशके प्रति गतिसाधन इंद्रियें हैं जिसके ऐसा शरभ अर्थात् पर-मानंदरूप परमात्मा यह जाना हुआ सिंह अर्थात् द्वैतको नाशनेवाला है इसी वास्ते आठवसु अर्थात् वासना देवता अर्थात् तिसतिस इंद्रियका अधिष्ठात्रियोंमें लिंगात्मा वेदमें सुनेहै आत्मामें नहीं यूप अर्थात् अज्ञान अष्टधारोंवाला हुआ सब यज्ञ अर्थात् ग्रहातिग्रह संज्ञक विषयेंद्रियोंके संयोगोंमें वर्तताहै ॥ १५ ॥

बंद्युवाच--नवैवोक्ताः सामिधेन्यः पितॄणां तथा प्राहु-र्नवयोगं विसर्गम् ॥ नवाक्षराबृहती संप्रदिष्टा नवैवयो गो गणनामेतिशश्वत् ॥ १६ ॥

अर्थ-द्वैतनाशकपना आत्माको उपपन्न नहींहै सबोंको एक कालमें संसारका नाशकी आपत्तिसे ऐसी शंका करता हुआ बंदी कहने लगा जैसे पितरोंके यज्ञमें-उशंतस्त्वानिधीमहि यह एक ऋचा तीनवार कही प्रत्येक तीन तीन समिध देनेसे नव समिधवाली अग्निको जगानेके लिये ऋचा संपन्न होतीहै तैसे अकेली प्रकृतिही अपना अपनासे अन्य प्रधान गुणके भावसे प्रत्येक तीन प्रकारकी होती हुई नवही संयुक्त होती हुई अंशोंको बहुत अल्पपनासे अनेक प्रकारकी रचनाको करतीहै जैसे नव

अक्षरोंवाले चार पादोंसे बृहतीसंज्ञक छंद होताहै अथवा जैसे नवअंक क्रमभेदसे स्थितहुये मनोवांछित संख्याके वाची होतेहैं इसीप्रकार ही गुण उक्तविधिसे नव हुये अनेक भावको प्राप्त होतेहैं तिस कारणसे प्रधान नित्यता आवश्यक कहनी चाहनेसे द्वैत सत्यहै ॥ १६ ॥

अष्टावक्र उवाच--दिशो दशोक्ताः पुरुपस्य लोके सहस्रमाहुर्दशपूर्ण शतानि॥दशैव मासान् बिभ्र-ति गर्भवत्यो दशैरका दशदाशादशार्हाः ॥ १७ ॥

अर्थ--द्वैतको अनिर्वचनीय मायाकी सहायरूप ब्रह्ममें भानकी उपपत्तिमें प्रकृतित्व नहींहै ऐसा आशयवाला अष्टावक्र बोला विषयस्वरूपको अत्यंत रचनेवाली दिशा अर्थात् वाणी आदि दशहीहैं पुरुषके देह नामक पुरमें वसता हुआ जीवके पूर्ण अर्थात् परब्रह्मही विहजारहां विभूतिके भेदसे माया करकै बहुत रूप करकैहै ऐसे वेद कहतेहैं जैसे स्त्रीको गर्भ करके अंत-रालिक संबंध असंगाचिदात्माका अहंकारसेंहै दशैरक अर्थात् तत्त्वदर्शी उपदेष्टा दशमासहैं अर्थात् तत्वके क्षेप कहैं दशार्हा अर्थात् तत्त्वविद्याके अधिकारीहैं इस प्रकार उक्तविधानवाला ब्रह्म अद्वैत विद्वानोंको अनुभव सिद्धहै मूढोंको द्वेष्यहै चित्तकी शुद्धिवालोंको श्रद्धाके योग्यहै ॥ १७ ॥

वंद्युवाच—एकादशैकादशिनः पशूनामेकादशैवात्र भवंति यूपाः ॥ एकादश प्राणभृतां विकारा एकादशो-क्ता दिवि देवेषु रुद्राः ॥ १८ ॥

अर्थ—प्राणधारी जीव पशुओंके एकादश इंद्रियहैं प्रकाशक जिन्होंमें ऐसे विषयशब्द आदि एकादश अर्थात् ग्यारह हैं वे सबभी प्रत्येक यूप अर्थात् बंधन राग आदि हैं शब्द आदि ग्रहसे उपजे हर्ष विषाद आदि विकार ग्यारह हैं वेही ये स्वर्गमें देवतोंकोभी रुवानेवाले हैं मनुष्योंकी कौन कथा है कोई सत्यात्माको असंग कैसेहीदुःखकाअनुभवसे प्रत्यक्ष करें ॥ १८ ॥

अष्टावक्र उवाच—संवत्सरं द्वादशमासमाहुर्जगत्याः पादौ द्वादशैवाक्षराणि ॥ द्वादशाहः प्राकृतो यज्ञ उक्तो द्वादशादित्यान् कथयंतीह धीराः ॥ १९ ॥

अर्थ—दृष्टांतके मुखसे दार्ष्टांतिकको कह दिखाता हुआ अष्टावक्र बोला यद्यपि यहां संवत्सर और जगती मासके अक्षरोंसे व्यतिरिक्त नहीं है इसप्रकार संघातसे अन्य शुद्ध चेतन मूढोंको अप्रसिद्ध है जैसे अहर्गणोंका द्वादशाह है इसी प्रकार संपूर्ण संघातका शुद्ध ब्रह्मही प्रकृतिहै यहां कैसे प्राप्तहोताहै इस अपेक्षामें चित्तकी शुद्धि करकै यह अर्थ प्राप्त होताहै केवल शुष्क तर्कसे नहीं प्राप्त होता धीर अर्थात् ध्यानवाले योगी धर्म सत्य दम तप अमात्सर्य लज्जा सहना निंदा नहींकरना यज्ञ दान धृति महान् यम बारह आदित्य अर्थात् व्रतोंको कहतेहैं ॥ १९ ॥

बंधुवाच—त्रयोदशी तिथिरुक्ता प्रशस्ता त्रयोदशद्वीपवती महीच ॥

अर्थ—ब्रह्मलोकमे प्राप्त हुओंको ही ज्ञान होताहै कितनोंका यह मतहै कृतयुग आदिमें नहीं ज्ञान होताहै कलियुगमें नहीं

होता कितनोंका यह मतहै यह दूरकरता हुआ बंदी कहनें लगा त्रयोदशी तिथि उत्तम कहीहै और तेरह द्वीपवाली पृथिवी मानीहै अर्थात् देशकालकी अपेक्षावाली चित्तशुद्धि पुरुषका जतनसे साध्य नहीं है ॥

लोमश उवाच–एतावदुक्त्वा विरराम बंदी श्लोक स्यार्धव्याजहाराष्टवक्रः ॥

अर्थ–लोमशमुनि कहने लगे इसप्रकार कहकर बंदी चुप हुआ आधा श्लोक अष्टावक्रने कहा–

अष्टावक्र उवाच--त्रयोदशाहानि ससारकेशी त्रयोदशादीन्यतिच्छन्दांसिचाहुः ॥ २० ॥

अर्थ--केशी अर्थात् अग्नि वायु सूर्य इन्होकी तरह आत्मा असंग है दश इन्द्रिय बुद्धि मन अहकार ये तेरह हैं विपर्येंद्रिय संबंधरूप भोग नामक यज्ञमें असंग आत्माकोभी बुद्धि आदिके संगसे संगिपनाकी तरह भान होता है इसवास्ते बुद्धिआदि शोधनेही योग्य हैं उदासीन होवे नहीं इसी प्रकार जो ऐसे जानै अहं ब्रह्मास्मि-इस श्रुतिके अनुसार देशमें और कालमे मुक्ति होती है पूर्वोक्त धर्मआदिके बलसे उत्पन्न हुआ ज्ञानमें बुद्धि आदि निवृत्त होते हैं वे बुद्धिआदि निवृत्त होनेमें अद्वैत ब्रह्म कहनेको आया हूं यह पूर्व प्रतिज्ञा आपही प्रकाशित होती है॥

ततोमहानुदतिष्ठन्निनादस्तूष्णींभूतं सूतपुत्रं निशम्य॥ अधोमुखं ध्यानपरं तदानीमष्टावक्रं चाप्युदीर्यतमेव ॥ २१ ॥

अर्थ—तदनन्तर बंदीको चुप हुआ देख महाशब्द उठा नीचाको मुखवाला ध्यान करता हुआ ऐसा बंदी है और अष्टावक्र अद्वैत ब्रह्मको कहता हुआकी ब्राह्मण स्तुति करते हैं ॥ २१ ॥

तस्मिंस्तथा संकुले वर्तमाने स्फीते यज्ञे जनकस्योत्तराज्ञः ॥ अष्टावक्रं पूजयन्तोऽभ्युपेयुर्विप्राः सर्वे प्रांजलयः प्रतीताः ॥ २२ ॥

अर्थ—तब तैसा संकुल वर्तमान होनेमें जनकराजाका यज्ञ प्रकाशित होनेमें अंजली बांधकर ब्राह्मण अष्टावक्रको पूजते हुये आये ॥ २२ ॥

अष्टावक्र उवाच--अनेनैव ब्राह्मणाः शुश्रुवांसो वादेजित्वा सलिले मज्जिताः प्राक्॥तानेवधर्मानयमद्य बंदी प्राप्नोतु गृह्याशु निमज्जयैनम् ॥ २३ ॥

अर्थ--अष्टावक्र बोला इस बंदीने पंडित ब्राह्मण बादमें जीतकर पहले पानीमें डुबो दिये हैं उन्हीं धर्मोंको बंदी प्राप्त हो बंदीको पकड जलमें शीघ्र डुबोना ॥ २३ ॥

बंद्युवाच--अहं पुत्रो वरुणस्योतराज्ञस्तत्रास सत्रं द्वादशवार्षिकं वै॥सत्रेण ते जनकस्तुल्यकालं तदर्थं ते प्रहिता मे द्विजाग्र्याः ॥ २४ ॥

अर्थ—बंदी कहने लगा--राजा वरुणका मैं पुत्र हूं हे जनक ! आपके यज्ञके तुल्यकाल बारह वर्षका यज्ञ वरुणलोकमें है तिसके लियें मैंने ये पंडित भेजे हैं ॥ २४ ॥

ते तु सर्वे वरुणस्योतयज्ञं द्रष्टुंगता इम आयांति भूयः॥

अष्टावक्रं पूजये पूजनीयं यस्य हेतोर्जनितारं समेष्ये २५

अर्थ—वे सब ब्राह्मण वरुणकी यज्ञको देखनेके लिये गयेहैं ये सब फिर आतेहैं पूजाके योग्य अष्टावक्रको मैं पूजताहूं जिसके कारणसे पिताको मिलूंगा ॥ २५ ॥

अष्टावक्र उवाच—विप्राः समुद्रांभसि मज्जिता ये वाचा जिता मेधयावाविदानाः॥तां मेधया वाचमथोज्जहार यथा वाचमविचिन्वन्ति सन्तः ॥ २६ ॥ अग्निर्दहन् जातवेदाः सतां गृहान् विसर्ज्जयंस्तेजसो नस्मधाक्षीत्॥बालेषु पुत्रेषु कृपणं वदत्सु तथा वाचमविचिन्वंति संतः ॥ २७ ॥ श्लेष्मातकी क्षीणवर्चाः शृणोषि उताहो त्वं स्तुतयो मादयंति ॥ हस्तीवत्त्वं जनक विनुद्यमानो नमामिकां वाचमिमां शृणोषि २८

अर्थ—अष्टावक्र बोला ऊंचा पाठसे अथवा ऊहापोह कौशलसे पंडित ब्राह्मण जीतकर जलमें डबोदिये बंदीने वेदमयीवाणीकूं तर्कसमुद्रमें डबोई हुईका मैंने उद्धार किया अर्थात् बंदीको जीता यहां सदसद् वचनके विवेकमें कुशल परीक्षा करो ॥ २६ ॥ शंकाहै बंदीकी उद्धत करी वाणीको कुतर्क समुद्रमें तू डबोताभया तहां सत्पुरुषोने क्या परीक्षा करनी इस प्रकार शंकाकर कहताहै जैसे तप्त किया फर्शाको ग्रहण करनेमें अग्नि सत्यवक्ताको नहीं जलाता क्योंकि सत्यका पक्षपातीहै और जाति विद्या अवस्था विद्या आदिका पक्षपाती इसी प्रकार संतभी कृपण बोलतेहुये बालक पुत्रोंमें

वाणीको विचारतेहैं इसी कारण बालकका वचन मेरा वाक्य अपमानके योग्य नहीं करना ॥ २७ ॥ ल्हेशवाके पत्तोंमें भोजन करना और ल्हेशवाके पत्तोंका खाना बुद्धिको नाशताहै और दोषको करताहै उसकी तरह क्षीणतेजवाला तू सुनताहै स्तुति तुझको आनंद देतीहै हे जनक! हस्तीकी तरह प्रेरित हुआ तू मेरी वाणीको नहीं सुनताहै ॥ २८ ॥

जनक उवाच--शृणोमि वाचं तव दिव्यरूपाममानु-
षीं दिव्यरूपोसि साक्षात्॥अजैषीर्यद्बंदिनं त्वं विवादे
निसृष्ट एष तव कामोद्यबंदी ॥ २९ ॥

अर्थ--जनक कहनें लगा तेरी दिव्यरूप दैवी वाणीको मैं सुनता हूं साक्षात् तू दिव्यरूपहै जो तू विवादमें बंदीको जीतता भया अब तेरा मनोवांछित होताहै यह बंदीहै इसको देख ॥ २९ ॥

अष्टावक्र उवाच--नानेन जीवता कश्चिदर्थो मे बंदिना
नृप॥पिता यद्यस्य वरुणो मज्जयैनं जलाशये॥३०॥

अर्थ--अष्टावक्र बोला हे राजन् । इस बंदीके जीवनेसे मे-रा कोई प्रयोजन नहीं है इसका पिता वरुणभी हो तो भी इसको समुद्रमें डबोदो ॥ ३० ॥

बंद्युवाच--अहं पुत्रो वरुणस्योत राज्ञो न मे भयं वि-
द्यते मज्जितस्य॥इमं मुहूर्तं पितरं द्रक्ष्यतेयमष्टावक्र-
श्चिरनष्टं कहोडम् ॥ ३१ ॥

अर्थ--बंदी कहने लगा वरुण राजाका मैं पुत्रहूं जलमें डबो-

या हुआको. मुझे भय नहीं है बहुत कालसे नष्ट हुआ कहोड नामक पिताको इसी मुहूर्तमें अष्टावक्र देखैगा ॥ ३१॥

लोमश उवाच—ततस्ते पूजिता विप्रा वरुणेन महा-
त्मना॥उदातिष्ठंस्ततः सर्वे जनकस्य समीपतः ॥ ३२ ॥

अर्थ—लोमशमुनि कहतेहैं तदनंतर महात्मा वरुणसे पूजित किये वे सब ब्राह्मण जनकके समीप जलसे निकल प्राप्त हुए ॥ ३२ ॥

कहोड उवाच—इत्यर्थमिच्छंति सुताञ्जना जनन
कर्मणा॥ यदहं नाशकं कर्तुं तत्पुत्रः कृतवान्मम॥ ३३॥
उताबलस्य बलवानुत बालस्य पंडितः ॥
उतवा विदुषो विद्वान्पुत्रो जनक जायते ॥ ३४ ॥
शितेन ते परशुना स्वयमेवांतको नृप ॥ शिरांस्य-
पाहरन्राजौ रिपूणां भद्रमस्तुते ॥ ३५ ॥ महदौ-
क्थ्यं गीयते सामचाग्र्यं सम्यक्सोमः पीयते चात्र
सत्रे ॥ शुचीन्भागान्प्रतिजगृहुश्च हृष्टाः साक्षाज्जन-
कस्योत राज्ञः ॥ ३६ ॥

अर्थ—कहोड कहने लगा—मनुष्य जन्मकर्मसे इस लिये पुत्र-को चाहते हैं जो मैं नहीं कर सका वह मेरा पुत्रने किया॥ ३३॥ हे जनक ! तर्क है कि नहीं बलवालाके बलवाला पुत्र होजाता है बालकके पंडित पुत्र होजाताहै नहीं विद्वान्के विद्वान् पुत्र होताहै ॥ ३४ ॥ पैना फर्शासे शत्रुवोंके शिरोंको काटता हुआ तू आपही यमराजहै अर्थात् यमराजसे भी तेरी शत्रुमं-

हरणशक्ति अधिकहै तेरा कल्याण हो ॥ ३५ ॥ उक्थ यज्ञमें गानेके योग्य सामवेद गाया जाताहै सम्यक् प्रकारसे सोम पीया जाताहै प्रसन्न हुये देवते श्रद्धा भागोंको ग्रहण करते भये ये सब तात जनक राजाके यज्ञमें बीतते हैं ॥ ३६ ॥

लोमश उवाच—समुत्थितेष्वथसर्वेषु राजन्विप्रेषु ते ष्वधिकं सुप्रभेषु॥अनुज्ञातो जनकेनाथ राज्ञा विवेश तोयं सागरस्योत बंदी ॥ ३७ ॥ अष्टावक्रः पितरं पूजयित्वा संपूजितो ब्राह्मणैस्तैर्यथावत्॥प्रत्याजगा-माश्रममेवचाग्र्यं जित्वा सौतिं सहितो मातुलेन ॥ ॥ ३८ ॥ ततोऽष्टावक्रं मातुरथांतिके पिता नदीं समंगां शीघ्रमिमां विशस्व ॥ प्रोवाच चैनं सतथा विवेश समैरंगैश्चापि बभूव सद्यः ॥ ३९ ॥

अर्थ—लोमश कहतेहैं हे राजन्॥युधिष्ठिर अधिक सुंदर कांति-वाले सब ब्राह्मण वरुणलोकसे आयचुके सब जनक राजाकी आज्ञालेके बंदि समुद्रके जलमें प्रवेश करता भया ॥ ३७ ॥ ब्राह्मणोंसे सम्यक् प्रकार पूजित किया अष्टावक्र पिताकी पूजाकर ऐसे बंदीको जीत मामाके साथ अपना उत्तम आश्रमको फिर आया॥ ३८ ॥ तदनंतर पिता माताके समीप स्थित हुआ अष्टा-वक्रको कहने लगा इस समंगानदीमें प्रवेशकर अष्टावक्र नदीमें बूड़ा तत्काल समान अंगोंवाला होगया ॥ ३९ ॥

नदी समंगाच बभूव पुण्या यस्यां स्नातो मुच्यते कि-ल्बिषेभ्यः॥त्वमप्येनां स्नानपानावगाहैः सभ्रातृकः सह

भार्यो विशस्व ॥ ४० ॥ अत्रकौंतेयसहितो भ्रातृभिस्त्वं सुखोषितः सहविप्रैः प्रतीतः॥ पुण्यान्यन्यानिशुचिकर्मैकभक्तिर्मयासार्धं चरितास्याजमीढ ॥ ४१ ॥

इत्यष्टावक्रगीता समाप्ता ॥ ३ ॥

इत्यष्टावक्रगीतायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इति पंचमं प्रकरणम् ॥ ५ ॥

अर्थ–समंगानदीभी पवित्र होगई जिसमें स्नान करनेंसे मनुष्य पापसे छूटताहै तूभी स्नान पान गोता मारना इन्होंसे भाई और द्रौपदीसहित प्रवेश करना ॥ ४० ॥ हे कुंतीका पुत्र! भाइयों सहित ब्राह्मणों सहित सुखपूर्वक वासकर पवित्र कर्ममें एक भक्तिवाला तू अन्य पवित्र तीर्थोंको हे आजमीढ! विचरेगा॥ ॥ ४१ ॥ यहां अष्टावक्र गीतामें तीसरा अध्याय समाप्त हुआ॥

इति श्रीरोहतकप्रदेशान्तर्गतबेरीग्रामनिवासिगौड़वंशावतंसाविविधशास्त्रपरमपंडितश्रीशिवसहायपुत्ररविदत्तशास्त्रिविरचितपंचदशीगीताभावदीपकभाषाटीकायामष्टावक्रगीता समाप्ता ॥ ३ ॥

यहां पंचम प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

अथ नहुषगीता ॥

वैशंपायन उवाच--युधिष्ठिरस्तमासाद्य सर्पभोगेन वेष्टितम् ॥ दयितं भ्रातरं धीमानिदं वचनमब्रवीत्

॥ १ ॥ कुंतीमातः कथमिमामापदंत्वमवाप्तवान् ॥
कश्चायं पर्वताभोगप्रतिमः पन्नगोत्तमः ॥ २ ॥
सधर्मराजमालक्ष्य भ्राता भ्रातरमग्रजम् ॥ कथयामा
सतत्सर्वं ग्रहणादिविचेष्टितम् ॥ ३ ॥ भीम उवाच ॥
अयमार्य महासत्वो भक्षार्थं मां गृहीतवान् ॥ नहुषोना-
म राजर्षिः प्राणवानिव संस्थितः ॥ ४ ॥

अब नहुषगीता कहतेहैं ॥

अर्थ—वैशंपायन कहतेहैं--सर्पके शरीरसे वेष्टित किया प्रिय भ्राताको प्राप्तहो बुद्धिमान् युधिष्ठिर यह वचन कहनेलगा ॥ ॥ १ ॥ हे कुंतीका पुत्र इस आपत्को तू कैसे प्राप्त हुआ और पर्वतके समान यह सर्पोत्तम कौनहै ॥ २ ॥ वह भीमसेन बडाभाईको देख अपनेको सर्पका वशमें आने आदिकी चेष्टा आदि सब कहता भया ॥ ३ ॥ भीम कहने लगा--हे आर्य यह महासर्प खानेके लियें मुझें ग्रहण करता भया नहुष यह नाम राजर्षि है प्राणवालाकी तरह स्थितहै ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच--मुच्यतामयमायुष्मन् भ्राता मेऽ
मितविक्रमः ॥वयमाहारमन्यंते दास्यामः क्षुन्निवार-
णम् ॥ ५ ॥ सर्प उवाच--आहारो राजपुत्रोयं मया प्रा-
प्तो मुखागतः ॥ गम्यतां नेह स्थातव्यं श्वोभवानापि मे
भवेत् ॥ ६ ॥ व्रतन्मेतन्महाबाहो विषयं मम यो
व्रजेत्॥समे भक्षो भवेत्तात त्वं चापि विषये मम ॥७॥
च्चिरेणाद्य मयाहारः प्राप्तोऽयमनुजस्तव ॥ नाहमेनं वि-

मोक्ष्यामि न चान्यमभिकांक्षये ॥ ८ ॥ युधिष्टिर उवाच--देवो वा यदिवा दैत्य उरगो वा भवान्यदि ॥ सत्यं सर्प वचो ब्रूहि पृच्छति त्वां युधिष्टिरः॥ किमर्थं च त्वया ग्रस्तो भीमसेनो भुजंगम ॥ ९ ॥ किमाहृत्य विदित्वा वा प्रीतिस्ते स्याद्भुजंगम ॥ किमाहारं प्रयच्छामि कथं मुंचेद्भवानिमम् ॥ १० ॥

अर्थ--युधिष्टिर कहतेहैं--हे आयुष्मन् बहुत पराक्रमवाला इस मेरा भाईको छोडदे भूखको निवारण करनेवाला अन्यभोजन हम देंगे ॥ ५ ॥ सर्प बोला -यह राजपुत्र मुखमें प्राप्त हुआ भोजनहै तुम गमन करो यहां नहीं स्थित रहना कल तूभी मेरा भोजन होगा ॥ ६ ॥ हेमहाबाहो यह मेरा व्रतहै मेरे देशमें जो गमन करै वह मेरा भोजनहै हेतात तूभी मेरा देशमें है ॥ ७ ॥ बहुत कालमें तेरा छोटाभाई भोजन मिलाहै न तो मैं इसको छोडूं और न मैं अन्यको चाहूं ॥ ८ ॥युधिष्टिर कहताहै--हे सर्प देव अथवा दैत्य अथवा दिव्य सर्प तू कोनहै सत्य कह तुझको युधिष्टिर पूछताहै हे भुजंगम यह भीमसेन किसलिये तैने ग्रसाहै ॥ ९ ॥ हे भुजंगम क्या लेकर अथवा क्या जानकर तेरी प्रीति होगी क्या भोजन तुझें दूं इसको तुम कैसे छोडोगे ॥ १० ॥

सर्प उवाच नहुषो नाम राजाहमासं पूर्वस्तवानघ ॥
प्रथितः पंचमः सोमादायोः पुत्रो नराधिप ॥ ११ ॥
क्रतुभिस्तपसा चैव स्वाध्यायेन दमेनच ॥
त्रैलोक्यैश्वर्यमव्यग्रं प्राप्तोहं विक्रमेण च ॥ १२ ॥

तदैश्वर्य्यं समासाद्य दर्पो मामगमत्तदा ॥
सहस्रं हि द्विजातीनामुवाह शिबिकां मम ॥ १३ ॥
ऐश्वर्य्यमदमत्तोहमवमन्यत्ततो द्विजान् ॥
इमामगस्त्येन दशामानीतः पृथिवीपते ॥ १४ ॥
नतु मामजहात्प्रज्ञा यावदद्येति पांडव ॥
तस्यैवानुग्रहाद्राजन्नगस्त्यस्य महात्मनः ॥ १५ ॥

अर्थ--सर्प कहने लगा–हे अनघ पहले मैं नहुष राजा था हे नराधिप चंद्रमासे पाचमी पीढीमें आयुका पुत्र था ॥ ११ ॥ यज्ञ तप स्वाध्याय दम और पराक्रम इन्होंसे सुन्दर त्रिलोकीके ऐश्वर्यको प्राप्त हुआ ॥ १२ ॥ तब उस ऐश्वर्यको प्राप्त हो मेरेको गर्व प्राप्त हुआ हजार ब्राह्मण मेरी पालकीको वहते भये ॥ १३ ॥ ऐश्वर्यके मदसे मत्त हुआ मैं ब्राह्मणोंका अपमानकर हे पृथिवीपते अगस्त्यने इस अवस्थाको प्राप्त किया ॥ १४ ॥ हे पांडव जबसे अबतक मेरी बुद्धी योग्य है महात्मा अगस्त्यके अनुग्रहसे हे राजन् ॥ १५ ॥

षष्ठे काले मयाहारः प्राप्तोयमनुजस्तव ॥
नाहमेनं विमोक्ष्यामि न चान्यदपि कामये ॥ १६ ॥
प्रश्नानुच्चारि[illegible]न्द्य व्याहरिष्यसि चेन्मम ॥
अथ पश्चाद्विमोक्ष्यामि भ्रातरं ते वृकोदरम् ॥ १७ ॥
युधिष्ठिर उवाच–ब्रूहि सर्प यथाकामं प्रतिवक्ष्यामि ते वचः ॥ अपि चेच्छक्नुयां प्रीतिमाहर्तुं ते भुजंगम॥ १८॥
वेद्यंच ब्राह्मणेनेह तद्भवान् वेत्ति केवलम् ॥

सर्पराज ततः श्रुत्वा प्रतिवक्ष्यामि ते वचः ॥ १९ ॥

अर्थ–छठा कालमे तेरा यह छोटा भाई भोजन प्राप्त हुआ है न तो इसको छोडूं और न अन्य भोजनको चाहताहूं ॥ १६ ॥ अब मेरे कहे प्रश्नोंको जो तू कहेगा तो इसके अनन्तर पीछे तेरा भाई भीमसेनको छोडदूंगा ॥ १७ ॥ युधिष्ठिर बोला–हे सर्प यथेच्छ कह तेरा प्रश्नका उत्तर कहूंगा हे भुजंगम जो कदाचित् तेरी प्रीति करनेको मैं समर्थ हूंगा तो ॥ १८ ॥ ब्राह्मणेन घटं करोति–इसकी तरह भाविनी वृत्तिको आश्रित हो अब्राह्मण मुमुक्षु मैंभी ब्रह्मविद्याचि ब्राह्मणशब्दका प्रयोग है ब्राह्मणने जो वेद्य है उसके बलको पुरुषार्थपनासे जो आप जानतेहो तो हे सर्पराज सुनकर पीछे तेरा वचनको फिर कहूंगा ॥ १९ ॥

मनुष और

सर्प उवाच--ब्राह्मणः को भवेद्राजन्वेद्यं किं च युधिष्ठिर॥
ब्रवीह्यतिमतिं त्वां हि वाक्यैरनुमिमीमहे ॥ २० ॥

युधिष्ठिर उवाच--

सत्यं दानं क्षमाशीलमानृशंस्यं तपो घृणा ॥
दृश्यंते यत्र नागेंद्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥ २१ ॥
वेद्यं सर्प परं ब्रह्म निर्दुःखमसुखं च यत् ॥
यत्र गत्वा न शोचंति भवतः किं विवाक्षितम् ॥ २२ ॥
सर्प उवाच--चातुर्वर्ण्यं प्रमाणं च सत्यं च ब्रह्म चैवहि॥
शूद्रेष्वपि च सत्यं च दानमक्रोध एव च ॥
आनृशंस्यमहिंसा च घृणा चैव युधिष्ठिर ॥ २३ ॥
वेद्यं यच्चात्र निर्दुःखमसुखं च नराधिप॥

ताभ्यां हीनं पदं चान्यन्न तदास्तीति लक्षये ॥ २४ ॥

अर्थ–जो ब्रह्मवितके लक्षणहैं वेही ब्रह्मविद्याके साधकहै ऐसे मानता हुआ सर्प ब्रह्मवित्के लक्षण और ब्रह्मस्वरूपको पूछता है हे राजन् ब्राह्मण कौन होताहै हे युधिष्ठिर वेद्य क्या होताहै तू कह वाक्योंसे तुझको बहुत बुद्धिमान मानताहूं ॥ २० ॥ युधिष्ठिर बोला सत्य अर्थात् यथार्थ और प्रिय वचन दान क्षमा शील दया तप कृपा ये सब हे नागेंद्र जिसमें दीखैं वह ब्राह्मण कहाहै ॥ २१ ॥ हे सर्प वेद्य परब्रह्म दुःख सुखसे रहितहै जहां प्राप्तहो फिर संसार नहीं प्राप्त होता आपको क्या जाननेकी इच्छा है ॥ २२ ॥ सर्प तो ब्राह्मणपदसे जातिमात्रको जाननेकी इच्छा कर शूद्रमें ब्राह्मणके लक्षणका व्यभिचार करता है चारवर्ण प्रमाणहै और ब्रह्म सत्यहै और शूद्रोंमें भी सत्य दान अक्रोध दया अहिंसा और कृपा ये हो तो हे युधिष्ठिर वे ब्राह्मण होसक्ते हैं ॥ २३ ॥ हे नराधिप दुःख सुखसे रहित जो वेद्य है इन दुःख सुखोंसे रहित पद नहीं दीखताहै ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर उवाच–शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते
नवै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥ २५ ॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः ॥
यत्रैतन्न भवेत्सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ॥ २६ ॥
यत्पुनर्भवता प्रोक्तं न वेद्यं विद्यतीति च ॥
ताभ्यां हीनमतोन्यत्र पदं नास्तीतिचेदपि ॥ २७ ॥
एवमेतन्मतं सर्प ताभ्यां हीनं न विद्यते ॥

यथा शीतोष्णयोर्मध्ये भवेन्नोष्णं न शीतता ॥ २८ ॥
एवं वै सुखदुःखाभ्यां हीनेनास्ति पदं क्वचित् ॥
एषा मम मतिः सर्प यथा वा मन्यते भवान् ॥ २९ ॥
सर्प उवाच—यदि ते वृत्ततो राजन्ब्राह्मणः प्रसमीक्षितः ॥
वृथा जातिस्तदा युष्मत्कृतिर्यावन्न विद्यते ॥ ३० ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोला—शूद्रमें लक्षण हो वह ब्राह्मणमें न हो वह शूद्र शूद्र नहींहै और वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है अर्थात् शम आदिसे युत हुआ शूद्र ब्राह्मणहै और काम आदिसे युत हुआ ब्राह्मण शूद्रहै ॥ २५ ॥ जिसमें हे सर्प ब्राह्मणका वृत्तहो वह ब्राह्मण कहाताहै जिसमें ब्राह्मणका वृत्त नहो वह शूद्र कहना ॥ २६ ॥ जो फिर आपने कहा वेद्य नहींहै क्योंकि सुखदुःखसे रहित कोईभी पद नहीं है ॥ २७ ॥ हे सर्प यह ठीक सुखदुःखसे रहित पद अर्थात् स्थान नहींहै जैसे शीत उष्णके मध्यमें न उष्णहै और न शीतलता है ॥ २८ ॥ ऐसे सुखदुःखसे हीन कहींभी पद नहींहै यह मेरी बुद्धि है अथवा जैसे आप मानते हो ॥ २९ ॥ सर्प कहने लगा हे राजन् जो तेने वृत्तसे ब्राह्मण मानाहै तो हे राजन् ! जाति वृथाहै जबतक कर्म नहो ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर उवाच—जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते ॥
संकरात्सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः ॥ ३१ ॥
सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयंति सदा नराः ॥
वाङ्मैथुनमथो जन्म मरणं च समं नृणाम् ॥ ३२ ॥
इदमार्षं प्रमाणं च ये यजामह इत्यपि ॥

तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्वदर्शिनः ॥ ३३ ॥
प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ॥
तत्रास्यमाता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥ ३४ ॥
तावच्छूद्रसमो ह्येष यावद्वेदे न जायते ॥
तस्मिन्नेवं मतिद्वैधे मनुः स्वायंभुवोब्रवीत् ॥ ३५ ॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोला–हे महासर्प ! हे महामते ! ! वाणी आदि-कोंके और मैथुनसे साधारणपनेसे जातीकी परीक्षा मुशकिलहै यह मेरी बुद्धिहै ॥ ३१ ॥ सब मनुष्य सब जातीकी स्त्रियोंमें संतान उपजातेहैं और मनुष्योंकी वाणी मैथुन जन्म और मरण ये समान है ॥ ३२ ॥ शंका है जातिके नहीं निश्चयमें कैसे ब्राह्मणोहं अर्थात् मैं ब्राह्मणहूं इसआदि अभिमानसे यज्ञ आदिमें कैसे प्रवृत्त होसक्ताहै ऐसी शंका कर कहताहै यह आर्ष प्रमाणहै अत्र ये यजामहे-इस करके जो हम ब्राह्मणहै अथवा अन्य जातीहै वे हम यज्ञ करतेहैं ऐसे ब्राह्मणपनामें नहीं निश्चय दिखायाहै तिस कारणसे आचारही ब्राह्मणपनाके निश्चयमें कारणहै ऐसे तत्वदर्शियोंने कहाहै ॥ ३३ ॥ नाभिके छेदनसे पहले पुरुषका जातकर्म किया जाताहै तहां इसकी माता गायत्रीहै और पिता आचार्य कहाताहै ॥ ३४ ॥ जबतक वेदका संयोग नहो तबतक शूद्रके समानहै इस संशयमें मनुस्वायंभुवने कहाहै ॥ ३५ ॥

कृतकृत्याः पुनर्वर्णा यदि वृत्तं न विद्यते ॥
संकरस्त्वत्र नागेंद्र बलवान्प्रसमीक्षितः ॥ ३६ ॥
यत्रेदानीं महासर्प संस्कृतं वृत्तमिष्यते ॥

तं ब्राह्मणमहंपूर्वमुक्तवान् भुजगोत्तम ॥ ३७ ॥
सर्प उवाच--श्रुतं विदितवेद्यस्य तव वाक्यं युधिष्ठिर ॥
भक्षयेयमहं कस्माद्भ्रातरं ते वृकोदरम् ॥ ३८॥
इति नहुषगीतायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥
इति षष्ठं प्रकरणम् ॥ ६ ॥

अर्थ--हेनागेंद्र जो वैदिक संस्कार न हो तो सब प्रजा शू समान होजातीहै संकर बलवान् देखाहै ॥ ३६ ॥ हे महास जहां अब वैदिक संस्कारसे युत वृत्त लियाहै उस ब्राह्मणको भुजगोत्तम मैं पहले कहता भया॥ ३७॥ सर्प कहने लगाहे युधि-ष्ठिर वेद्यको तू जानताहै तेरा वाक्य मैंने सुना किसवास्ते तेरा भाई भीमसेनको मैं भक्षण करसक्ताहूं अर्थात् नहीं करसक्ताहूं ॥ ३८ ॥
यहां नहुषगीतामें पहला अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥
यहां षष्ठप्रकरण समाप्त हुआ ॥

युधिष्ठिर उवाच--भवानेतादृशो लोके वेदवेदांगपारगः॥
ब्रूहि किं कुर्वतः कर्म भवेद्गातिरनुत्तमा ॥ १ ॥
सर्प उवाच—पात्रे दत्वा प्रियाण्युक्त्वा सत्यमुक्त्वा च भारत॥अहिंसानिरतः स्वर्गं गच्छेदितिमतिर्मम ॥ २ ॥
युधिष्ठिर उवाच—दानाद्वा सर्प सत्वाद्वा किमतो गुरु दृ-श्यते॥अहिंसाप्रिययोश्चैव गुरुलाघवमुच्यताम् ॥ ३ ॥
सर्प उवाच--दानंच सत्यं तत्त्वं वा अहिंसा प्रियमेवच॥
एषां कार्यगरीयस्त्वाद्दृश्यते गुरुलाघवम् ॥ ४ ॥
कस्माच्चिद्दानयोगाद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥

सत्यवाक्याच्च राजेंद्र किंचिद्दानं विशिष्यते ॥ ५ ॥

अर्थ—ब्रह्मप्राप्तिको उपाय दान आदि युधिष्ठिर पूछता है—संसारमें वेदवेदांगके पारको गत हुये आप हो कहो किस कर्म करनेसे बहुत उत्तम गति होती है ॥ १ ॥ सर्प कहने लगा—हे भारत पात्रको दान देकर प्रिय वचन बोलकर और सत्य कहकर और अहिंसासेरत हुआ मनुष्य स्वर्गको गमनकरता है ऐसी मेरी बुद्धि है ॥ २ ॥ युधिष्ठिर बोला—दानसे अथवा सत्यसे आपसमें कौन भारी है अहिंसा और प्रिय वचनमें कौन भारी है और कौन हलका है कहो ॥ ३ ॥ सर्प कहने लगा दान सत्य अहिंसा और प्रिय इन्होंमें कार्य अत्यन्त भारीपनसे गुरुलाघवं दीखताहै ॥ ४ ॥ किसीके दानयोगसे सत्य विशेष है हेराजेन्द्र कहींक सत्यवाक्यसे दान विशेष है यहां यह निर्णय है निन्दकको अभय देनेका बुद्धिमान् सत्यको नहीं त्यागै साधुओंको अभय देनेको सत्यभी त्यागना चोरोंसे प्रिय बोलनासे अहिंसा बहुत उत्तम है अहिंसासे परमात्माख्य प्रियाख्यान विशेष है ॥ ५ ॥

एवमेव महेष्वास प्रियवाक्यान्महीपते ॥
अहिंसा दृश्यते गुर्वी ततश्च प्रियमिष्यते ॥ ६ ॥
एवमेतद्भवेद्राजन्कार्यापेक्षमनन्तरम् ॥
यदभिप्रेतमन्यत्ते ब्रूहि यावद्ब्रवीम्यहम् ॥ ७ ॥
युधिष्ठिर उवाच- कथं स्वर्गे गतिः सर्प कर्मणां च फलं ध्रुवम् ॥ अशरीरस्यं दृश्येत प्रब्रूहि विषयांश्च मे ॥ ८ ॥
सर्प उवाच--तिस्रोवै गतयो राजन्परिदृष्टाः स्वकर्मभिः॥

मानुषं स्वर्गवासश्च तिर्यग्योनिश्च तत्त्रिधा ॥ ९ ॥
तत्रैव मानुषाल्लोकाद्दानादिभिरतंद्रितः ॥
अहिंसार्थसमायुक्तैः कारणैः स्वर्गमश्नुते ॥ १० ॥

अर्थ—हे महेष्वास इसीप्रकार प्रियवाक्यसे अहिंसा बडी दीखतीहै हेमहीपते कहींक अहिंसासे प्रिय वचन विशेष है ॥ ६ ॥ ऐसे हे राजन् कार्यकी अपेक्षासे है इसके अनंतर हे राजन् ! जो तुझको अन्य वांछित है वह कह मैं कह सक्ताहूं ॥ ७ ॥ युधिष्ठिर बोला हे सर्प स्वर्गमें कैसे प्रतीति होती है कर्मोका फल निश्चय है विना शरीरवाला कैसे स्वर्गमें जाता है इन विषयोंको मुझसे कहो ॥ ८ ॥ सर्प कहने लगा—हे राजन् आपने कर्मोंसे तीन गति देखी है मनुष्य स्वर्गवास और तिरच्छीयोनि ऐसे तीन प्रकार है ॥ ९ ॥ तहां मनुष्य लोकसे दान आदिकर नहीं तंद्रित हुआ अहिंसार्थ कारणोंसे युत हुआ स्वर्गको भोगता है १० ॥

विपरीतैश्च राजेंद्र कारणैर्मानुषो भवेत् ॥
तिर्यग्योनिस्तथा तात विशेषश्चात्र वक्ष्यते ॥ ११ ॥
कामक्रोधसमायुक्तो हिंसालोभसमन्वितः ॥
मनुष्यत्वात्परिभ्रष्टस्तिर्यग्योनौ प्रसूयते ॥ १२ ॥
तिर्यग्योन्याः पृथग्भावो मनुष्यार्थे विधीयते ॥
गवादिभ्यस्तथाश्वेभ्यो देवत्वमपि दृश्यते ॥ १३ ॥
सोयमेता गतीस्तात जंतुश्चरति कार्यवान् ॥
नित्ये महति चात्मानमवस्थापयते द्विजः ॥ १४ ॥
जातो जातश्च बलवान्भुंक्ते चात्मा स देहवान् ॥

फलार्थस्तात निष्पृक्तः प्रजालक्षणभावनः ॥ १९ ॥

अर्थ–हे राजेंद्र विपरीत कारणोंसे मनुष्य होताहै और बहुत विपरीत कारणोंसें हेतात पशुपक्षी आदि होताहै यहां विशेष कहतेहैं ॥ ११ ॥ कामक्रोधसे युत हुआ हिंसालोभसे युत हुआ मनुष्य मनुष्ययोनिसे भ्रष्टहोकर तिरछीयोनिमें जन्मताहै ॥ ॥ १२ ॥ तिर्य्यग्योनिका पृथग्भाव मनुष्यके लिये विधान किया जाताहै गौआदिको और घोडाआदिको देवत्व दीखताहै ॥ १३ ॥ हेतात कार्यवाला प्राणी इन गतियोंको विचरताहै महत् ब्रह्ममें आत्मा अर्थात् जीवको उपाधिके त्यागसे घटाकाशकी तरह प्रलीन करताहै ॥ १४ ॥ वह देहाभिमानी जीव प्रारब्धसे उपगृहीत हुआ वारंवार जन्म ले सुखको चाहताहुआ देहका योगके फलको भोगताहै इसकरकै फलको चाहनेवाला की प्रवृत्तिहै उस्से कर्महै उस्से जन्महै उस्से फलका भोगहै उस्से प्रीतिहै निष्काम कर्मकर्ता चित्तकी शुद्धिके अतिशयसे जन्म मरण आदि दोषोंको देखताहै ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर उवाच–शब्दस्पर्शौ च रूपे च तथैव रसगंधयोः
तस्याधिष्ठानमव्यग्रो ब्रूहि सर्प यथातथम् ॥ १६ ॥
किं न गृह्णासि विषयान् युगपत्त्वं महामते ॥
एतावदुच्यतां चोक्तं सर्वं पन्नगसत्तम ॥ १७ ॥
सर्प उवाच–यदात्मद्रव्यमायुष्मन्देहसंश्रयणान्वितम् ॥
कारणाधिष्ठितं भोगानुपभुंक्ते यथाविधि ॥ १८ ॥
ज्ञानं चैवात्र बुद्धिश्च मनश्च भरतर्षभ ॥

तस्य भोगाधिकरणे करणानि निबोधमे ॥ १९ ॥
मनसा तात पर्यौति क्रमशो विषयानिमान् ॥
विषयापत्तनस्थेन भूतात्मा क्षेत्रनिःसृतः ॥ २० ॥

अर्थ--युधिष्ठिर बोला -शब्द स्पर्श रूप रस और गंध इन्होंमें हे सर्प उस्का यथार्थ अधिष्ठान कहो ॥ १६ ॥ हे महामते एक कालमें विषयोंको क्यों नहीं ग्रहण करता हे पन्नगसत्तम इस सपूर्णको कहो ॥ १७ ॥ सर्प कहने लगा--हे आयुष्मन् उपाधियोंसे विशिष्ट हुआ आत्मद्रव्य वक्ष्यमाण करणोंसे अधिष्ठित हुआ भोगोंको यथाविधि भोगताहे ॥ १८ ॥ हे भरतर्षभ ज्ञान अर्थात् रूपआदि आकारवाली धीवृत्ति उस करकै उसके साधक इंद्रिय ग्रहण कियेजातेहैं बुद्धि और मन ये सब उसका भोगके अधिकरणमें करण जानने ॥ १९॥ विषयके ग्राहकपनेसे आयतन स्थान इंद्रिय उसमें स्थित हुआ मनसे भूतात्मा जीव तिसतिस द्वारसे निकसाकर क्रमसे इनरूप आदिको प्राप्त होताहै ॥ २० ॥

तत्रचापि नरव्याघ्र मनो जंतोर्विधीयते ॥
तस्माद्युगपदत्रास्य ग्रहणं नोपपद्यते ॥ २१ ॥
स आत्मा पुरुषव्याघ्र भ्रुवोरंतरमाश्रितः ॥
बुद्धिं द्रव्येषु सृजति विविधेषु परावरान् ॥ २२ ॥
बुद्धेरुत्तरकाला च वेदना दृश्यते बुधैः ॥
एषवै राजशार्दूल विधिः क्षेत्रज्ञभावनः ॥ २३ ॥
युधिष्ठिर उवाच—मनसश्चापि बुद्धेश्च ब्रूहिमे लक्षणं परम्

एतदध्यात्मविदुषां परं कार्यं विधीयते ॥ २४ ॥
सर्प उवाच--बुद्धिरात्मानुगातीव उष्णा तेन विधीयते॥
तदाश्रिताहि साक्षेपा बुद्धिस्तस्यैषिणी भवेत् ॥ २५ ॥

अर्थ--वह मन विषयके ग्रहणको कर्तव्यमें बुद्धिसे व्यापार कर आविष्टकराजाताहै इसवास्ते व्यापार कालके भेदसे एककालमें विषयोंको नहीं ग्रहण करता ॥ २१ ॥ हे पुरुषव्याघ्र बुद्धि मन इंद्रिय इन करणोंसे युत हुआ आत्मा भ्रूकुटियोंके मध्यमें स्थित हुआ रूपआदि द्रव्योंमें अनेक प्रकारकी बुद्धिको प्रेरता है॥ २२ ॥ बुद्धि और बुद्धिके अभावमें जो ज्ञानहै वह योगियोंने बुद्धिके सकाशसे विविक्तपनासे अथवा युक्ति और अनुभवसे ग्रहणकराजाताहै यह वही ज्ञान क्षेत्रज्ञभावन अर्थात् अपनेको प्रकाशकरताहै ॥ २३ ॥ युधिष्ठिर बोला तू मेरेप्रति मनका और बुद्धिका परम लक्षण कहो अध्यात्मवेत्ताओंका यह परकार्य विधानहै ॥ २४ ॥ बुद्धि अत्यंत आत्माके साथ तादात्म्यको प्राप्तहुईहै जैसे लोहाका गोला अग्निसे इसी कारणसे वह आत्मचैतन्यसे अनुषिद्धहै उत्क्रांतिआदि उत्पातसे वशीभूत करी जातीहै आत्मचैतन्य बुद्धिके आश्रितहै बुद्धिस्वरूपकी सिद्धिके लिये आत्मारूप अधिष्ठानको चाहतीहै ॥ २५ ॥

बुद्धिरुत्पद्यते कार्यान्मनस्तूत्पन्नमेवाहि ॥
बुद्धेर्गुणविधानेन मनस्तद्गुणवद्भवेत् ॥ २६ ॥
एतद्विशेषणं तात मनोबुद्ध्योर्यदंतरम् ॥
त्वमप्यत्राभिसंबुद्धः कथं वा मन्यतेभवान् ॥ २७ ॥

युधिष्ठिर उवाच- अहो बुद्धिमतां श्रेष्ठ शुभाबुद्धिरि-
यं तव॥विदितं वेदितव्यं ते कस्मात्समनुपृच्छसि॥२८॥
सर्वज्ञं त्वां कथं मोह आविशत्स्वर्गवासिनम् ॥
एवमद्भुतकर्माणमिति मे संशयो महान् ॥ २९ ॥
सर्प उवाच—सुप्रज्ञमपिचेच्छूरमृद्धिर्मोहयते नरम् ॥
वर्तमानः सुखे सर्वो मुह्यतीति मतिर्मम ॥ ३० ॥

अर्थ- विषयेंद्रियके संयोगआदि कार्यसे बुद्धि उपजतीहै उसकी निवृत्तिमें निवृत्त होतीहै मन उत्पन्न हुआहीहै । बुद्धिका गुणके विधानसे मन बुद्धिके गुणवाला होजाताहै ॥ २६ ॥ हे तात मन बुद्धिका जो अंतरहै वह व्यावर्तकहै उस करके वासना बीजके नाशसे संसारांकुर नहीं उपजता यह सिद्ध है तूभी इस विषयमें बोद्धा है अथवा तू कैसे मानताहै ॥२७॥ युधिष्ठिर बोला—आश्चर्य है हे बुद्धिमतांश्रेष्ठ तेरी यह शुभ बुद्धिहै वेदिन और वेदितव्यको किस कारणसे पूछता भया ॥ २८ ॥ स्वर्गवासी सर्वज्ञ आपहो आपको मोह कैसे प्राप्त हुआ आप अद्भुत कर्मवाले हो यह मुझे महान् संशयहै ॥ २९ ॥ सर्प कहने लगा सुंदर बुद्धिमान् और शूरवीर मनुष्यकोभी ऋद्धि मोहतीहै सुखमें वर्तमान सब मोहको प्राप्त होतेहैं यह मेरी बुद्धि है ॥ ३० ॥

सोहमैश्वर्यमोहेन मदाविष्टो युधिष्ठिर ॥
पतितः प्रतिसंबुद्धस्त्वां तु संबोधयाम्यहम् ॥ ३१ ॥
कृतं कार्यं महाराज त्वया मम परंतप ॥
क्षीणः शापः सुकृच्छ्रो मे त्वया संभाष्य साधुना॥३२॥

अहं हि दिवि दिव्येन विमानेन चरन्पुरा ॥
अभिमानेन मत्तः सन् किंचिन्नान्यमचिंतयम् ॥ ३३ ॥
ब्रह्मर्षिदेवगंधर्वयक्षराक्षसपन्नगाः ॥
करान्मम प्रयच्छंति सर्वे त्रैलोक्यवासिनः ॥ ३४ ॥
चक्षुषा यं प्रपश्यामि प्राणिनं पृथिवीपते ॥
तस्य तेजो हराम्याशु तद्धि दृष्टेर्बलं मम ॥ ३५ ॥

अर्थ—ऐश्वर्यमोहसे और मदसे युत हुआ मैं हे युधिष्ठिर पतित हुआ फिर बोधको प्राप्त हो तुझें बोध करताहूं ॥ ३१ ॥ हे महाराज हेपरंतप मेरा कार्य तैंने किया तुझ साधुसे सभाषण कर सुंदर कष्टरूप शाप नष्ट हुआ ॥ ३२ ॥ मैं स्वर्गमें अथवा आकाशमें विमानसे पहले विचारता हुआ अभिमानसे मत्तहुआ किसी अन्यको नहीं चिंतवन करता भया ॥ ३३ ॥ ब्रह्मर्षि देव गंधर्व यक्ष राक्षस दिव्य सर्प और त्रिलोकीमें वसनेवाले सब मुझें करदेते रहे ॥ ३४ ॥ हे पृथिवीपते नेत्रसे जिस प्राणीको देखूं उसीके तेजको हरूं मेरी दृष्टिका यह बल रहा ३५

ब्रह्मर्षीणां सहस्रं हि उवाह शिबिकां मम ॥
समामपनयो राजन् भ्रंशयामास वै श्रियंः ॥ ३६ ॥
तत्र ह्यगस्त्यः पादेन वहन्स्पृष्टो मया मुनिः ॥
अगस्त्येन ततोस्म्युक्तो ध्वंस सर्पेति वै रुषा ॥ ३७ ॥
ततस्तस्माद्विमानाग्र्यात्प्रच्युतश्च्युतलक्षणः ॥
प्रपतन्बुबुधेत्मानं व्यालीभूतमधोमुखम् ॥
अयाचं तमहं विप्रं शापस्यांतो भवेदिति ॥ ३८ ॥

सर्प उवाच—प्रमादात्संप्रमूढस्य भगवन्क्षंतुमर्हसि ॥
ततः समामुवाचेदं प्रपतन्तं कृपान्वितः ॥ ३९ ॥
युधिष्ठिरो धर्मराजः शापात्त्वां मोक्षयिष्यति ॥
अभिमानस्य घोरस्य पापस्य च नराधिप ॥ ४० ॥

अर्थ—हजार ब्रह्मर्षि मेरी पालकीको वहते भये हेराजन् वह अन्याय मुझे संपत्से भ्रष्ट करता भया ॥ ३६ ॥ तहां पालकीको बहताहुआ अगस्त्य मुनिको पैरकी लात मारी तब अगस्त्यने क्रोधसे कहा नष्ट होकर सर्प होजा ॥ ३७ ॥ तभी उस उत्तम विमानसे बिगडे लक्षणोंवाला मैं गिरा गिरता हुआ नीचाको मुखवाला अपनेको सर्प जानता भया मैं उस ब्राह्मण-को याचता भया शापका अंतहो ॥ ३८ ॥ सर्प कहने लगा प्रमादसे मूढ हुआ मैं हूं मुझपै हे भगवन् क्षमा करो पीछे गिरता हुआ मुझे वह कृपायुत हुआ बोला ॥ ३९ ॥ घोर और पापरूप-अभिमानके शापसे हे महाराज धर्मराज युधिष्ठिर छुटावेगा ४० ॥

फले क्षीणे महाराज फलं पुण्यमवाप्स्यसि ॥
ततो मे विस्मयो जातस्तद्दृष्ट्वा तपसोबलम् ॥ ४१ ॥
ब्रह्म च ब्राह्मणत्वं च येन त्वाहमचूचुदम् ॥
सत्यं दमस्तपो दानमहिंसाधर्मनित्यता ॥ ४२ ॥
साधकानिसदापुंसां न जातिर्न कुलं नृप ॥
अरिष्टएषते भ्राता भीमसेनो महाबलः ॥
स्वस्ति तेस्तु महाराज गमिष्यामि दिवं पुनः ॥ ४३ ॥
वैशंपायन उवाच—इत्युक्त्वाजगरंदेहं मुक्त्वा सनहुषो

नृपः॥दिव्यं वपुःसमास्थाय गतस्त्रिदिवमेवह ॥ ४४॥
युधिष्ठिरोपि धर्मात्मा भ्रात्रा भीमेन संगतः॥
धौम्येन सहितः श्रीमानाश्रमं पुनरागमत्॥ ४५॥

अर्थ–हे महाराज फल क्षीण होनेमें पवित्र फलको प्राप्त होगा पीछे मुझे आश्चर्य हुआ तपके उस बलको देखकर ॥ ४१ ॥ जिसकारणसे ब्रह्म और ब्राह्मणका लक्षण कहनेको तुझे प्रेरताभया सत्य दम तप दान अहिंसा धर्मनित्यता ॥ ४२ ॥ ये पुरुषोंके सदा साधक है हे नृप न जाति है और न कुल है यह महाबल भीमसेन तेरा भाई आनंदित है हे महाराज तेरा कल्याण हो फिर मैं स्वर्गको जाताहूं ॥ ४३ ॥ वैशंपायन कहते हैं–ऐसे कह अजगरदेहको त्याग वह नहुष राजा दिव्यशरीरको प्राप्त हो स्वर्गको गया ॥ ४४ ॥ धर्मात्मा और श्रीमान् युधिष्ठिरभी भाई भीमसेनसे मिल धौम्यसहित फिर आश्रमको प्राप्त हुआ ॥४५॥

ततो द्विजेभ्यः सर्वेभ्यः समेतेभ्यो यथातथम्॥
कथयामास तत्सर्वं धर्मराजो युधिष्ठिरः॥ ४६॥
तच्छ्रुत्वा ते द्विजाः सर्वे भ्रातरश्चास्य ते त्रयः॥
आसन्सुव्रीडिताराजन्द्रौपदी च यशस्विनी॥ ४७॥
ते तु सर्वे द्विजश्रेष्ठाः पांडवानां हितेप्सया॥
मैवमित्यब्रुवन्भीमं गर्हयंतोस्य साहसम्॥ ४८॥
पांडवास्तुभयान्मुक्तं प्रेक्ष्य भीमं महाबलम्॥
हर्षमाहारयांचक्रुर्विजह्रुश्च मुदा युताः॥ ४९॥

इति नहुषगीतायां द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

इति सप्तमं प्रकरणम्॥

अर्थ--पीछे इकट्ठे हुये सब ब्राह्मणोंको यथायोग्य वह सब वृत्तांत धर्मराज युधिष्ठिर कहता भया ॥ ४६ ॥ वे ब्राह्मण अर्जुन, नकुल, सहदेव और द्रौपदी उस वृत्तांतको सुन हे राजन् लज्जित हुये ॥ ४७ ॥ वे सब ब्राह्मण पांडवोंके हितके लिये भीमसेनके साहसको निंदित करते हुये भीमको बोले फिर ऐसा न करना ॥ ४८ ॥ पांडव तो भयसे छुटा महाबल भीमको देख आनंद करते भये और आनंदसे युत हो क्रीडा करतेभये ॥ ४९ ॥

यहां नहुष गीतामें दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥

इति श्रीरोहितकप्रदेशांतर्गतवेरीग्रामनिवासिगौडवंशावतंस-
विविधशास्त्रपरमपंडितश्रीशिवसहायपुत्ररविदत्तशास्त्रि-
विरचितपञ्चदशगीताभावदीपकभाषाटीकायां
नहुषगीता समाप्ता ॥ ४ ॥

यहां सातमां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

अथ सरस्वतीगीता ॥

मार्कंडेय उवाच—अत्रैव च सरस्वत्या गीतं परपुरंजय॥पृष्टा या मुनिना वीर शृणु तार्क्ष्येण धीमता॥१॥ तार्क्ष्य उवाच—किंनु श्रेयः पुरुषस्येह भद्रे कथं कुर्वन्न च्यवते स्वधर्मात् ॥ आचक्ष्व मे चारुसर्वांगि कुर्यात्त्वयाशिष्टो न च्यवेयं स्वधर्मात् ॥२॥ कथं वाग्निं जुहुयां पूजये वा कस्मिन्काले केन धर्मो न नश्येत्॥एतत्सर्वं सुभगे प्रब्रवीहि यथा लोकान् विरजाः संचरेयम् ॥ ३ ॥ मार्कंडेय उवाच—एवं पृष्टा प्रीतियुक्तेन

तेन शुश्रूषुमीक्ष्योत्तमबुद्धियुक्तम्॥ताक्ष्यं विप्रं धर्म-
युक्तं हितं च सरस्वती वाक्यमिदं बभाषे ॥ ४ ॥
सरस्वत्युवाच—यो ब्रह्म जानाति यथाप्रदेशं स्वाध्या-
यनित्यः सुचिरप्रमत्तः ॥ सवै पारं देवलोकस्य गंता
सहामरैः प्राप्नुयात्प्रीतियोगम् ॥ ५ ॥

अब सरस्वतीगीता कहतेहैं ॥

मार्कंडेय कहतेहैं—हे परपुरंजय ! हेवीर ! यहां बुद्धिमान् ताक्ष्यमुनिने पूछी सरस्वतीने गीता कहीहै ॥ १ ॥ ताक्ष्यं कहने लगा- हेभद्रे ! पुरुषको श्रेय क्या है कैसे करताहुआ अपना धर्मसे नहीं हटता मेरेप्रति कह. हे चारुसर्वांगि ! तेरेसे शिक्षित किया मैं अपना धर्मसे नहीं अलग हूंगा ॥ २ ॥ कैसे अग्निमें हवन करूं अथवा कैसे पूजूं किस कालमें किस प्रकार धर्म नष्ट नहो हे सुभगे यह सब कह जैसे प्रकाशित हुआ मैं लोकोंको प्राप्तहूं ॥ ३ ॥ मार्कंडेय कहतेहैं--ऐसे प्रीतिसे युक्त हुआने पूछी सरस्वती शुश्रूषु उत्तमबुद्धिसे युक्त और-धर्मसे युक्त ऐसा ताक्ष्य-विप्रको यह वाक्य बोली ॥ ४ ॥ सरस्वती कहतीहै—जो सगुण-ब्रह्म सहार्दाकाशाख्यको देशभेदको नहीं उल्लंघितकर जानताहै ओंकारको नित्य जपताहै कार्य पवित्र रहै प्रमादसे रहित रहै वह देवतोंसे प्रीतिको प्राप्तहो ब्रह्मलोकमें जाताहै ॥ ५ ॥

तत्रस्म रम्याविपुला विशोकाः सुपुष्पिताः पुष्क-
रिण्यः सुपुण्याः ॥ अकर्दमामीनवत्यः सुतीर्था हिर-
ण्मयैरावृताः पुंडरीकैः ॥ ६ ॥ तासां तीरेष्वासते

पुण्यभाजो महीयमानाः पृथगप्सरोभिः ॥ सुपुण्यगंधाभिरलंकृताभिर्हिरण्यवर्णाभिरतीव हृष्टाः ॥ ॥ ७ ॥ परंलोकं गोप्रदास्त्वाप्नुवंति दत्वानडुहं सूर्यलोकं व्रजंति॥ वासो दत्वा चांद्रमसं तु लोकं दत्वा हिरण्यममरत्वमेति॥८॥धेनुं दत्वा सुप्रभां सुप्रदोहां कल्याणवंत्सामपलायिनीं च ॥ यावंति रोमाणि भवंति तस्यास्तावद्वर्षाण्यासते देवलोके ॥ ९ ॥ अनड्वाहं सुव्रतं यो ददाति हलस्य वोढारमनंतवीर्यम् ॥ धुरंधरं बलवंतं युवानं प्राप्नोति लोकान्दशधेनुदस्य ॥ १०॥

अर्थ--तहां रमणीक सुंदर शोकरहित सुंदर पुष्पोंवाला सुंदर पवित्र कीचड़से रहित मछलियोंवाली सुंदर तीर्थोंवाली और सुवर्णमय कमलोंसे आच्छादितहुई ऐसी पुष्करिणी है ॥ ६ ॥ उन्होंके तीरोंपै अलग २ सुंदर पवित्र गंधोंवाली आनन्द भूषणोंसे अलंकृत हुई और सोनासरीखा वर्णवाली ऐसी अप्सराओंसे पूजित होते भये अत्यंत आनदित रहतेहैं ॥ ७ ॥ गोदान करनेवाले देवलोकके पार लोकमें जातेहैं बैलको देनेवाले सूर्यलोकको जातेहैं वस्त्र देनेवाले चंद्रलोकको जातेहैं सोना देनेवाले देवते होजातेहैं ॥ ८ ॥ सुंदर कांतिवाली सुंदर दूध देनेवाली सुंदर बच्छावाली नहीं भागनेवाली ऐसे गौका दानकर गौके जितने रोमहों उतने वर्ष देवलोकमें वसताहै ॥ ९ ॥ सुंदर हलको वहनेवाला और अनंतवीर्यवाला धुरको धारण करनेवाला बलवान्

और जुवान ऐसा बैलका दान करनेवाले दश गोदानका फलको प्राप्त होतेहैं ॥ १० ॥

ददाति यो वै कपिलां सचैलां कांस्योपदोहां द्रविणैरुत्तरीयैः ॥ तैस्तैर्गुणैः कामदुहाथ भूत्वा नरं प्रदातारमुपैति सा गौः ॥ ११ ॥ यावंति रोमाणि भवंति धेन्वास्तावत्फलं भवति गोप्रदाने ॥ पुत्रांश्च पौत्रांश्च कुलं च सर्वमासप्तमं तारयते परत्र ॥ १२ ॥ सदक्षिणां कांचनचारुशृंगीं कांस्योपदोहां द्रविणैरुत्तरीयैः ॥ धेनुं तिलानां ददतो द्विजाय लोका वसूनां सुलभा भवंति ॥ १३ ॥ स्वकर्मभिर्दानवसंनिरुद्धे तीव्रांधकारे नरके पतंतम् ॥ महार्णवे नौरिव वातयुक्ता दानं गवां तारयते परत्र ॥ १४ ॥ यो ब्राह्मदेयां तु ददाति कन्यां भूमिप्रदानं च करोति विप्रे ॥ ददाति दानं विधिना च यश्च स लोकमाप्नोति पुरंदरस्य ॥ १५ ॥

अर्थ--जो मनुष्य वस्त्रोंसहित कांसीका दोहना और पाल आदि वस्त्रसहित कपिलाका दान करताहै वह गौ तिन तिन गुणोंसे कामदुहा होकर दातामनुष्यको प्राप्त होतीहै ॥ ११ ॥ गौके जितने रोम हैं उतना फल गोदानमें है परलोकमें पुत्र, पोता और सात पीढियोंको तारतीहै ॥ १२ ॥ दक्षिणासहित सोनाकी सुंदर राशी गड़ीसहित कांसीका दोहना और पालआदि वस्त्रोंसहित तिलोंकी धेनुको ब्राह्मणके अर्थ देनेवालाको वसुलोक सुलभ है ॥ १३ ॥ अपने कर्मोंसे दानोंकर रोकेहुये बहुत अंधे-

रावाले नरकमें गिरताहुआ मनुष्यको महासमुद्रमें वातयुक्त नावकी तरह गौका दान परलोकमें तारताहै ॥ १४ ॥ जो ब्राह्म विवाहकी विधिसे कन्याको अलंकृतकर वरको देताहै और ब्राह्मणको पृथिवी देताहै और जो विधिसे दान करताहै वह इंद्र-लोकमें जाताहै ॥ १५ ॥

यः सप्तवर्षाणि जुहोति तार्क्ष्य हव्यं त्वग्नौ नियतः साधुशील ॥ सप्तावरान्सप्तपूर्वान्पुनाति पितामहा-नात्मना कर्मभिः स्वैः ॥ १६ ॥ तार्क्ष्य उवाच—किम ग्निहोत्रस्य व्रतं पुराणमाचक्ष्व मे पृच्छतश्चानुरूपे ॥ त्वयानुशिष्टोहमिहाद्य विद्यां यदग्निहोत्रस्य व्रतं पुराणम् ॥ १७ ॥ सरस्वत्युवाच—न वाशुचिर्नाप्य-निर्णिक्तपाणिर्नाब्रह्मविज्जुहुयान्नाविपश्चित् ॥ बुभु-त्सवः शुचिकामाहि देवा नाश्रद्दधानाद्धिहविर्जुहं-ति ॥ १८ ॥ नाश्रोत्रियं देवहव्ये नियुंज्यान्मोघं पुरा सिंचति तादृशोहि ॥ अपूर्वमश्रोत्रियमाह तार्क्ष्य न वै तादृग्जुहुयादग्निहोत्रम् ॥ १९ ॥ कृशाश्चये जुह्व-ति श्रद्दधानाः सत्यव्रता हुतशिष्टाशिनश्च ॥ गवांलो-कं प्राप्य ते पुण्यगंधं पश्यंति देवं परमं चापि सत्यम् २०

अर्थ—हे तार्क्ष्य ! जो मनुष्य सात वर्ष नियमसे साधुशील हुआ अग्निहोत्र करताहै वह अपने कर्मोंसे अपने सहित सात पिछली और सात अगली पीढियोंके पुरुषोंको तारताहै ॥ १६ ॥ तार्क्ष्य कहनेलगा-हेअनुरूपे अग्निहोत्र करना वेदोदितहै तेरेसे शिक्षित हुआ

मैं अग्निहोत्रको वेदोदित जानूं॥ १७॥ सरस्वती कहतीहै--अपवित्र हुये हाथ पैर धोयेविना आचमन कियेविना वेदको पाठसे और अर्थसे नहीं जानते हुये वेदसे अधिगत अर्थका अनुभवसे हीन दूसराके चित्तको जाननेकी इच्छावाले शुद्धि चाहनेवाले और देवतोंमें श्रद्धावाले ऐसे अग्निमें होम करतेहैं ॥ १८ ॥ अश्रोत्रियको देवहवनमें नहीं योजितकरै अश्रोत्रियका होमा द्रव्य निष्फल होताहै जिसका कुल और शीलको नहीं जानै वह अश्रोत्रिय कहाताहै वह अग्निहोत्र न करसकै ॥ १९ ॥ धन आदिके गर्वसे हीन हुये सत्यवादी श्रद्धावाले. होमकरा पीछे भोजन करनेवाले ऐसे ऋत्विक् अथवा यजमान अग्निहोत्र करतेहैं वे गोलोक अर्थात् कार्यब्रह्मलोकके समीपस्थ ब्रह्माको प्राप्तहो पीछे क्रमसे परब्रह्मको प्राप्त होतेहैं इस करके अग्निहोत्र मुक्तिका हेतु है ॥ २० ॥

तार्क्ष्य उवाच–क्षेत्रज्ञभूतां परलोकभावे कर्मोदये बुद्धिमति प्रविष्टाम् ॥ प्रज्ञां च देवीं सुभगे विमृश्य पृच्छामि त्वां काह्यसि चारुरूपे ॥२१॥ सरस्वत्युवाच–अग्निहोत्रादहमभ्यागतास्मि विसर्पमाणा संशयच्छेदनाय ॥ त्वत्सन्नियोगादहमेतमब्रुवं भावे स्थिता तथ्यमर्थं यथावत् ॥२२ ॥ तार्क्ष्य उवाच–नहि त्वया सदृशी काचिदस्ति विभ्राजसे ह्यतिमात्रं यथा श्रीः॥रूपं च ते दिव्यमनंतकांति प्रज्ञां च देवीं सुभगे बिभार्षि ॥ २३ ॥ सरस्वत्युवाच–

श्रेष्ठानि यानि द्विपदां वरिष्ठ यज्ञेषु विद्वन्नुपपादयंति॥तैरेव चाहं संप्रवृद्धा भवामि चाप्यायिता रूपवतीच विप्र ॥ २४ ॥ यच्चापि द्रव्यमुपयुज्यतेह वानस्पत्यमायसंपार्थिवं वा ॥ दिव्येन रूपेणच प्रज्ञया च तवैव सिद्धिरिति विद्धि विद्वन् ॥ २५ ॥

अर्थ—तार्क्ष्य कहनेलगा—आत्मस्वरूप तू प्रज्ञाहै तुझे मैं पूछता हूं तू कौन है कर्म और ब्रह्मतत्वमें तू निविष्टहै हे सुभगे। दोनों तत्वोंको प्रकाशित करतीहुईको जान पूछता हूं सुंदर रूपवाली तू कौन है ॥ २१ ॥ सरस्वती कहतीहै—अग्निहोत्र सत्कर्मके सकाशसे मैं पर अपर विद्यारूप सरस्वती प्रकट हुई हूं तेरे समीप प्राप्त होकर कर्मोंके पारंपर्यसे कैवल्यहेतु व सगुणब्रह्मविद्याको मैं कहतीभईहूं जिस्से मैं भावमें स्थित हूं श्रद्धावान् अग्निहोत्र आदिकरके देवताके प्रसादको प्राप्त हो कर्म उपासना और ज्ञान फलोंको प्राप्त होताहै ॥ २२ ॥ तार्क्ष्य कहने लगा—तेरे समान कोईभी नहीं तू लक्ष्मीकी तरह अत्यंत प्रकाशितहै अनंतकांतिवाला रूप दिव्य है हे सुभगे। सुंदर बुद्धि को धारण कर रही ॥ २३ ॥ सरस्वती कहती है—हे द्विपदांवरिष्ठ अत्यंत उत्तम यज्ञोंमें श्रेष्ठ यज्ञउपासनाहै अर्थात् "अहं क्रतुरहं यज्ञः" यह भगवदुपदिष्ट सब यज्ञांगोंमें ब्रह्मदृष्टिकरण है उस्से बढीहुई और पुष्ट हुई मैं हे विप्र। रूपवती हूं ॥ २४ ॥ जो समिधआदि सोनाआदि अन्नआदि अग्निमें पूर्वोक्त उपासनासे होम होताहै उसको मोक्ष मिलता है हे विद्वन्। ॥ २५ ॥

तार्क्ष्य उवाच—इदं श्रेयः परमं मन्यमाना व्यापृच्छंते मुनयः संप्रतीताः॥आचक्ष्व मे तं परमं विशोकं मोक्षं परं यं प्रविशंति धीराः॥ सांख्यं योगाः परमं यं विदंति परं पुराणं तमहं न वेद्मि ॥ २६ ॥ सरस्वत्युवाच—तं वै परं वेदविदः प्रपन्नाः परं परेभ्यः प्रथितं पुराणम् ॥ स्वाध्यायवंतो व्रतपुण्ययोगैस्तपोधना वीतशोका विमुक्ताः ॥ २७ ॥तस्याथ मध्ये वेतसः पुण्यगंधाः सहस्रशाखा विपुला विभांति ॥ तस्य मूलात्सरितः प्रस्रवंति मधूदकप्रस्रवणाः सुपुण्याः॥२८॥ शाखां शाखां महानद्यः संयांति सिकताशयाः ॥ धानाः पूपा मांसशाकाः सदा पायसकर्दमाः ॥२९॥ यस्मिन्नग्निमुखा देवाः सेंद्राः सहमरुद्गणाः ॥ ईजिरे क्रतुभिः श्रेष्ठैस्तत्पदं परमं मम ॥ ३० ॥

इति सरस्वतीगीता समाप्ता ॥

इत्यष्टमं प्रकरणम् ॥ ८ ॥

अर्थ--तार्क्ष्य कहने लगा यही परम श्रेयहै ऐसे मानते हुये सम्यक् विश्वासवाले मुनि इंद्रियआदिका निग्रह करते हैं वह शोकरहित परममुक्तिको कह जहां धीर प्रवेश करते हैं सांख्य योगभी जिसको परम कहतेहैं वह परमहै पुराण है उसको मैं नहीं जानता ॥ २६ ॥ सरस्वती कहतीहै—उस परको वेदवित् प्राप्त होतेहैं वह परोंसे परेहैं पुराण अर्थात्

पहले भी नयाहै ओंकारका जप करनेवाले व्रत अहिंसा आदि चित्तकी वृत्तिका निरोध तप इन्होंवाले शोकसे रहित और मुक्तहुये वे उस परको प्राप्त होतेहैं ॥ २७ ॥ उस चिदात्माके मध्यमें वेतसवृक्षकी तरह सुंदर गंधवाला हजारहां शाखा अर्थात् भोगस्थानोंवाला पुष्ट ब्रह्मांड वृक्षहै उसके मूलसे अविद्या रूप नदीसे निरंतर बहतीहुई भोगकी वासना झिरतीहै मीठा पानीकी तरह पुष्टिकारक भोगज सुखको झिरातीहै ॥ २८ ॥ महानदी वासना पहले शाखा शाखा अर्थात् तिस तिस भोगस्थानको प्राप्त होतीहै अर्थात् अपना प्रवाहसे पतित हुआ पुरुषको प्राप्त करती है पुण्यकी वासनासे करताहुआ स्वर्गमें जाताही है सिकता अर्थात् वालू रेतकी तरह आपसमें असंश्लिष्ट पुत्र पशु आदि हो उन्हों शयन करते हैं अर्थात् पुत्रादि विषय हैं भुने जब मालपूआं मांस शाक और खीरकी कीचडवाली है अर्थात् भुने जवोंकी तरह अपना सजाती है विषयसुख नहीं उपजाती है मालपूवाकी तरह बहुत छिद्रवालीहै मांसकी तरह हिंसालभ्यहै क्योंकि प्राणियोंको नहिं उपहतकर भोग नहीं मिलता ऐसी प्रसिद्धि है—शाककी तरह अल्पसार है खीरकी तरह मुखमें मीठा और पाकमे बहुत भारी है और कीचड़की तरह चित्तरूपी वस्त्रको मलीन करताहै ऐसा वह संसारवृक्ष जड सहित काटना उचित है ॥ २९ ॥ जिसकी प्राप्तिके निमित्त योगयज्ञोंसे अग्नि आदि जहां प्राप्त होते हैं वह परम, उत्कृष्ट

और ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय इन्होंके भानसे शून्य ऐसा अद्वैत ब्रह्ममें स्थान है ॥ ३० ॥

इति श्रीरोहितकप्रदेशान्तर्गतवेरीग्रामनिवासिगौडवंशावतंसाविविधशास्त्रपरमपंडितश्रीशिवसहायपुत्ररविदत्तशास्त्रिविरचितपंचदशगीताभावदीपकभाषाटीकायां सरस्वतीगीता समाप्ता ॥ ५ ॥

यहां आठमां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

अथ युधिष्ठिरगीता ॥

जनमेजय उवाच—एवं हृतायां भार्यायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम्॥प्रतिपद्य ततः कृष्णां किमकुर्वत पांडवाः ॥
वैशंपायन उवाच—एवं हृतायां कृष्णायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम्॥विहाय काम्यकं राजा सहभ्रातृभिरच्युतः २॥
पुनर्द्वैतवनं रम्यमाजगाम युधिष्ठिरः ॥
स्वादुमूलफलं रम्यं विचित्रबहुपादपम् ॥ ३ ॥
अनुभुक्तफलाहाराः सर्वएव मिताशनाः ॥
न्यवसन्पांडवास्तत्र कृष्णया सह भार्यया ॥ ४ ॥
वसन् द्वैतवने राजा कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥
भीमसेनोर्जुनश्चैव माद्रीपुत्रौ च पांडवौ ॥ ५ ॥

अब युधिष्ठिरगीता कहते हैं ॥

अर्थ--जनमेजय कहने लगा ऐसे द्रौपदी जयद्रथने हर ली तब क्लेशको प्राप्त हो फिर द्रौपदीको प्राप्त पांडव क्या करते भये ॥ १ ॥

वैशंपायन कहते हैं-ऐसे द्रौपदीके हरनेमें बहुत क्लेशयुक्त भाईयों-सहित युधिष्ठिर करम्बक वनको छोड ॥ २॥ फिर रम्य द्वैतवनको गया जहां स्वादु मूल फल हैं और सुन्दर वृक्ष हैं ॥ ३ ॥ फलों-को खातेहुये प्रमाणसे भोजन करतेहुये द्रौपदीसहित पांडव वसते भये ॥ ४ ॥ द्वैतवनमें कुंतीका पुत्र युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव ॥ ५ ॥

ब्राह्मणार्थे पराक्रांता धर्मात्मानो यतव्रताः ॥
क्लेशमार्च्छंत विपुलं सुखोदर्कं परंतपाः ॥ ६ ॥
तस्मिन्प्रतिवसंतस्ते यत्प्रापुः कुरुसत्तमाः ॥
वने क्लेशं सुखोदर्कं तत्प्रवक्ष्यामि ते शृणु ॥ ७ ॥
अरणीसहितं मंथं ब्राह्मणस्यतपस्विनः ॥
मृगस्य घर्षमाणस्य विषाणे समसज्जत ॥ ८ ॥
तदादाय गतो राजंस्त्वरमाणो महामृगः ॥
आश्रमान्तरितः शीघ्रं प्लवमानो महाजवः ॥ ९ ॥
ह्रियमाणं तु तं दृष्ट्वा स विप्रः कुरुसत्तम ॥
त्वरितोभ्यागमत्तत्र अग्निहोत्रपरीक्षया ॥ १० ॥

अर्थ—ये नियमसे व्रतको धारनेवाले बडे तपस्वी धर्मात्मा पांडव ब्राह्मणोंके लिये सुखकर है उदय जिस्में ऐसे बहुत क्लेशको प्राप्त भये ॥ ६ ॥ उस वनमें वसते हुये पांडव जिस्से सुख प्राप्त होगा ऐसा क्लेश प्राप्त हुये वह मैं कहताहूं सुन ॥ ७ ॥ अग्नि-मथनदंड तपस्वी ब्राह्मणका मृगके शृंगमें फसगया ॥ ८ ॥ हे राजन्! उसको ले बहुत वेगवाला महामृग भागकर दूर चलागया

॥ ९ ॥ हे कुरुसत्तम हरता हुआ मृगको देखकर अग्निहोत्रकी इच्छासे ब्राह्मण शीघ्र आया ॥ १० ॥

अजातशत्रुमासीनं भ्रातृभिः सहितं वने ॥
आगम्य ब्राह्मणस्तूष्णीं संतप्तश्चेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥
अरणीसहितं मंथं समासक्तं वनस्पतौ ॥
मृगस्य घर्षमाणस्य विषाणे समसज्जत ॥ १२ ॥
तमादाय गतो राजंस्त्वरमाणो महामृगः ॥
आश्रमात्त्वरितः शीघ्रं प्लवमानो महाजवः ॥ १३ ॥
तस्य गत्वा पदं राजन्नासाद्य च महामृगम् ॥
अग्निहोत्रं न लुप्येत तदानयत पांडवाः ॥ १४ ॥
ब्राह्मणस्य वचः श्रुत्वा संतप्तोऽथ युधिष्ठिरः ॥
धनुरादाय कौंतेयः प्राद्रवद्भ्रातृभिः सह ॥ १५ ॥

अर्थ—वनमें भाइयोंसहित बैठे युधिष्ठिरको दुःखित हुआ और चुप हुआ ब्राह्मण आकर यह कहने लगा ॥ ११ ॥ आरणीसहित मंथ वृक्षमें धरा था उस वृक्षसे खासकर निकसनेवाले मृगके शींगमें प्राप्त हुआ ॥ १२ ॥ हेराजन्! उसको लेकर वह महामृग बहुत वेगवाला आश्रमसे शीघ्र भाग गया ॥ ॥ १३ ॥ हेराजन्! उस मृगके पैरके चिन्हके द्वारा महामृगको प्राप्तहो. हे पांडव! अरनीसहित मंथा लाके दो जिस्से अग्निहोत्रका नहीं नाशहो ॥ १४ ॥ ब्राह्मणके वचनको सुन बहुत दुःखित हुआ युधिष्ठिर धनुष ले भाइयोंसहित दौडताभया ॥ १५ ॥

सन्नद्धा धन्विनः सर्वे प्राद्रवन्नरपुंगवाः ॥

ब्राह्मणार्थे यतंतस्ते शीघ्रमन्वगमन्मृगम् ॥ १६ ॥
कर्णिनालीकनाराचानुत्सृजंतो महारथाः ॥
नाविध्यन्पांडवास्तत्र पश्यंतो मृगमंतिकात् ॥ १७ ॥
तेषां प्रयतमानानां नादृश्यत महामृगः ॥
अपश्यंतो मृगं श्रांता दुःखं प्राप्ता मनस्विनः ॥ १८ ॥
शीतलच्छायमागम्य न्यग्रोधं गहने वने ॥
क्षुत्पिपासापरीतांगाः पांडवाः समुपाविशन् ॥ १९ ॥
तेषां समुपविष्टानां नकुलो दुःखितस्तदा ॥
अब्रवीद्भ्रातरं श्रेष्ठममर्षात्कुरुनंदनम् ॥ २० ॥

अर्थ- सावधान हुये वे सब नरपुंगव ब्राह्मणके लिये जतन करते हुये मृगके पीछे दौडे ॥ १६ ॥ तीरोंको छोड़ते हुये महारथ पांडव समीपमें मृगको देखते हुयेभी नहीं वींधसके ॥ १७॥ उन्होंके जतन करनेमेंभी वह मृग नहीं दीखता भया उस मृगको नहीं देखते हुये श्रांत होकर दुःखको प्राप्त हुये ॥ १८ ॥ गहन वनमे शीतल छायावाले वटके वृक्षको प्राप्त होकर भूख प्याससे दुःखित हुये बैठगये ॥ १९ ॥ उन बैठे हुओंमें तब दुःखित हुआ नकुल अमर्षसे कुरुनंदन श्रेष्ठ भाईको बोला ॥ २० ॥

नास्मिन्कुले जातु ममज्ज धर्मो न चालस्यादर्थलोपो बभूव॥अनुत्तराः सर्वभूतेषु भूयः संप्राप्ताः स्मः संशयं किन्तु राजन् ॥ २१ ॥

इति युधिष्ठिरगीतायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इति नवमं प्रकरणम् ॥ ९ ॥

अर्थ—इस कुलमें धर्म नहीं डूबता भया और आलस्यसे प्रयोजनका नाशभी न भया सब प्राणियोंका कार्य उपस्थित होनेमें आपके वचनको हम अंगीकारही करते भये हे राजन् ! ब्राह्मणके कर्मलोपके निमित्त दोष लगा यह संशय है ॥ २१ ॥

यहां युधिष्ठिरगीतामें पहला अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

यहां नवमां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच—नापदामस्ति मर्यादा न निमित्तं न कारणम् ॥ धर्मस्तु विभजत्यर्थमुभयोः पुण्यपापयोः ॥ १ ॥ भीम उवाच—प्रातिकाम्यनयत्कृष्णां सभायां प्रेष्यवत्तदा॥ न मयानिहतस्तत्र तेन प्राप्ताः स्मसंशयम् ॥ २ ॥ अर्जुन उवाच—वाचस्तीक्ष्णास्थिभेदिन्यः सूतपुत्रेण भाषिताः ॥ अतितीव्रा मयाक्षांतास्तेन प्राप्ताःस्म संशयम् ॥ ३ ॥

अर्थ- युधिष्ठिर कहने लगा—आपदोंकी मर्यादा नहींहै न निमित्तहै और न कारणहै प्रारब्धरूपधर्म सुख दुःखको देताहै ॥ ॥ १ ॥ भीम कहने लगा—दुःशासन द्रौपदीको सभामें दासीकी तरह लाया वह पापी मैंने नहीं मारा उस करके हम संशयको प्राप्त हुये ॥ २ ॥ अर्जुन कहने लगा—तीक्ष्ण अस्थियोंको काटनेवाली वाणी कर्णने कही वे अत्यंत तीव्र मैंने सही उस करके हम संशयको प्राप्त हुये ॥ ३ ॥

सहदेव उवाच—शकुनिस्त्वां यदाजैषीदक्षद्यूतेन भारत॥

स मया न हतस्तत्र तेन प्राप्ताः स्म संशयम् ॥ ४ ॥
वैशंपायन उवाच--ततोयुधिष्ठिरो राजा नकुलं वाक्यम-
ब्रवीत्॥आरुह्य वृक्षं माद्रेय निरीक्षस्व दिशो दश ॥ ५ ॥
पानीयमंतिके पश्य वृक्षांश्चाप्युदकाश्रितान् ॥
एतेहि भ्रातरः श्रांतास्तव तात पिपासिताः ॥ ६ ॥
नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा शीघ्रमारुह्य पादपम् ॥
अब्रवीद्भ्रातरं ज्येष्ठमभिवीक्ष्य समंततः ॥ ७ ॥
पश्यामि बहुलान्राजन्वृक्षानुदकसंश्रयान् ॥
सारसानां च निर्ह्रादमत्रोदकमसंशयम् ॥ ८ ॥
ततोब्रवीत्सत्यधृतिः कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥
गच्छ सौम्य ततः शीघ्रं तूर्णैः पानीयमानय ॥ ९ ॥

अर्थ--सहदेव कहने लगा--हे ! भारत जब आपको जूवासे शकुनि जीतता भया वह मैंने नहीं मारा उस करके हम सशय-को प्राप्त हुये ॥ ४ ॥ वैशंपायन कहतेहैं- पीछे राजा युधि-ष्ठिर नकुलको बोला-हेमाद्रेय ! वृक्षको चढकर दशदिशाओंको देख ॥ ५ ॥ पानीको और समीपमें पानीके आश्रित जो वृक्ष हैं उन्होंको देख हेतात ! ये तेरे भाई श्रांत हुये पानी पीने की इच्छा करतेहैं ॥ ६ ॥ नकुल वचनको अंगीकार कर वृक्ष-पै शीघ्र चढकर सबतर्फ देख पीछे बडा भाईको कहने लगा ॥ ७ ॥ हे राजन् ! पानीके आश्रित हुये बहुतसे वृक्षोंको देखताहूं और सारस पक्षियोंका शब्दको सुनताहूं यहां पानी है संशय नहीं ॥ ८ ॥ तदनंतर सत्यधृति कुंतीपुत्र युधिष्ठिर बोला--हे सौम्य ! गमन कर तूर्णोंसे पानी ला ॥ ९ ॥

नकुलस्तुतथेत्युक्त्वा भ्रातुर्ज्येष्ठस्य शासनात् ॥
प्राद्रवद्यत्र पानीयं शीघ्रं चैवान्वपद्यत ॥ १० ॥
स दृष्ट्वा विमलं तोयं सारसैः परिवारितम् ॥
पातुकामस्ततो वाचमंतरिक्षात्स शुश्रुवे ॥ ११ ॥
यक्ष उवाच--मातात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ॥
प्रश्नानुक्त्वा तु माद्रेय ततः पिब हरस्व च ॥ १२ ॥
अनादृत्य तु तद्वाक्यं नकुलः सुपिपासितः ॥
अपिबच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपातह ॥ १३ ॥
चिरायमाणे नकुले कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥
अब्रवीद्भ्रातरं वीरं सहदेवमरिन्दमम् ॥ १४ ॥
भ्राता हि चिरयातो नः सहदेव तवाग्रजः ॥
तथैवानय सोदर्य्यं पानीयंच त्वमानय ॥ १५ ॥

अर्थ—नकुल वचनको अंगिकारकर बडा भाईकी शिक्षासे जहां पानी था वहां दौड़ा और शीघ्रही प्राप्त हुआ ॥ १० ॥ वह सारसोंसे परिवारित हुआ निर्मल पानीको देख पानी पीनेको तय्यार हुआ तब आकाशसे वाणी सुनता भया ॥ ११ ॥ यक्ष कहनेलगा-हेतात! पानी पीनारूप साहस मत करै मेरा यह नियम है. हे माद्रेय! प्रश्नोंको कहकर पानी पीना और लेजाना॥ १२ ॥ उसके वचनको नहीं मान तृषासे पीडित हुआ नकुल शीतल पानीको पीवता भया और पीकर गिरगया ॥ १३ ॥ नकुलको देर होगई तब कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर अरिंदम वीर ऐसा सहदेव भाईको बोला ॥ १४ ॥ हे सहदेव! तुझसे आगे जन्मा हमारा भाई

देरसे गया तू जाकर भाईको ला और पानी ला ॥ १५ ॥

सहदेवस्तथेत्युक्त्वा तां दिशं प्रत्यपद्यत ॥
ददर्श च हतं भूमौ भ्रातरं नकुलं तदा ॥ १६ ॥
भ्रातृशोकाभिसंतप्तस्तृषयाचप्रपीडितः ॥
अभिदुद्राव पानीयं ततो वागभ्यभाषत ॥ १७ ॥
मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ॥
प्रश्नानुक्त्वा यथाकामं पिबस्व च हरस्व च ॥ १८ ॥
अनादृत्य तु तद्वाक्यं सहदेवः पिपासितः ॥
अपिबच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपातह ॥ १९ ॥
अथाब्रवीत्स विजयं कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥
भ्रातरौ ते परिगतौ बिभत्सो शत्रुकर्शन ॥ २० ॥

अर्थ--सहदेव वचनको अंगिकार कर उस दिशाको गया तब पृथिवीपै गिरा मरा हुआ नकुल भाईको देखता भया॥ १६ ॥ भाईके शोकसे जलता हुआ और तृषासे पीडित हुआ पानी तर्फ भागा तब वाणी बोली ॥ १७ ॥ हे तात! साहस मत करै मेरा यह नियम है प्रश्न कहकर पानी पीना और लेजाना॥ १८॥ उसके वचनको नहीं मान तृषासे पीडित हुआ सहदेव शीतल पानी पीवता भया और पीतेही गिरता भया ॥ १९ ॥ पीछे कुंतीपुत्र युधिष्ठिर अर्जुनसे बोला-हे शत्रुकर्शन ! हे बिभत्सो! तेरे दोनों भाई देरसे गये हैं ॥ २० ॥

तौ चैवानय भद्रं ते पानीयं च त्वमानय ॥
त्वं हि नस्तात सर्वेषां दुःखितानामपाश्रयः॥ २१ ॥

एवमुक्तो गुडाकेशः प्रगृह्य सशरं धनुः ॥
आमुक्तखड्गो मेधावी तत्सरः प्रत्यपद्यत ॥ २२ ॥
ततः पुरुषशार्दूलौ पानीयहरणे गतौ ॥
तौ ददर्श हतौ तत्र भ्रातरौ श्वेतवाहनः ॥ २३ ॥
प्रसुप्ताविव तौ दृष्ट्वा नरसिंहः सुदुःखितः ॥
धनुरुद्यम्य कौंतेयो व्यलोकयत तद्वनम् ॥ २४ ॥
नापश्यत्तत्र किंचित्स भूतमस्मिन्महावने ॥
सव्यसाची ततः श्रांतः पानीयं सोभ्यधावत ॥ २५ ॥

अर्थ—हे तात तेरा कल्याण हो दोनों भाइयोंको ला और पानी ला दुःखित हुये हम सबोंका तूही आश्रय है ॥ २१ ॥ ऐसे उक्त किया अर्जुन शरसहित धनुषको ले तलवारको म्यानसे निकाश बुद्धिमान् उस सरोवरको प्राप्त हुआ ॥ २२ ॥ तदनंतर पानी लानेको गये पुरुषशार्दूल दोनों भाइयोंको मरेहुए देख अर्जुन ॥ २३ ॥ सुशयन करतेहुओंकी तरह देख वह दुःखित हुआ नरसिंह अर्जुन धनुष ले उस वनको देखता भया ॥ २४ ॥ उस महावनमें किसी प्राणीकोभी न देखताभया तब श्रांत हुआ अर्जुन पानीकी तर्फ भागा ॥ २५ ॥

अभिधावंस्ततो वाक्यमंतरिक्षात्स शुश्रुवे ॥
किमासीदसि पानीयं नैतच्छक्यं बलात्त्वया ॥ २६ ॥
कौंतेययदि प्रश्नांस्तान्मयोक्तान्प्रतिपत्स्यसे ॥
ततः पास्यसि पानीयं हरिष्यसि च भारत ॥ २७ ॥
वारितस्त्वब्रवीत्पार्थो दृश्यमानो निवारय ॥

यावद्बाणैर्विनिर्भिन्नः पुनर्नैवं वदिष्यसि ॥ २८ ॥
एवमुक्त्वा ततः पार्थः शरैरस्त्रानुमंत्रितैः ॥
प्रववर्ष दिशः कृत्स्नाः शब्दवेधं च दर्शयन् ॥२९॥
कर्णिनालीकनाराचानुत्सृजन् भरतर्षभ ॥
सत्वमोघानिषून्मुक्त्वा तृष्णयाभिप्रपीडितः॥ ३० ॥

अर्थ—सब तर्फ दौडता हुवा आकाशसे वाणी सुनता भया पानीके समीप क्यों जाता बलसे तुझे पानी नहीं मिलसक्ता॥ २६॥ हे कौंतेय! जो मेरे कहे प्रश्नोंको तू कहेगा तो हे भारत! पानी पीसकेगा और लेजासकेगा ॥ २७ ॥ वारित किया अर्जुन बोला दिखाई देकर मुझे पानीसे निवारण कर जब मेरे बाणोंसे भिन्न हुआ तू फिर ऐसे न कहेगा ॥ २८ ॥ ऐसे कहकर पीछे अर्जुन अस्त्रोंसे अनुमन्त्रित किये शरोंसे शब्दवेध दिखाताहुआ सब दिशाओंमें शर वर्षताभया ॥ २९ ॥ कर्णिनालीक नाराच ऐसे बाणोंको छोड और अमोघ बाणोंको छोड तृषासे पीडित हुआ ॥ ३० ॥

अनेकैरिषुसंघातैरंतरिक्षे ववर्षह ॥

यक्षउवाच ॥

किं विधानेन ते पार्थ प्रश्नानुक्त्वा ततः पिब ॥ ३१॥
अनुक्त्वा च पिबन्प्रश्नान्पीत्वैव न भविष्यसि ॥
एवमुक्तस्ततः पार्थः सव्यसाची धनंजयः ॥ ३२ ॥
अवज्ञायैव तां वाचं पीत्वैव निपपातह ॥
अथाब्रवीद्भीमसेनं कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३३ ॥

नकुलः सहदेवश्च बीभत्सुश्च परंतप ॥
चिरं गतास्तोयहेतोर्नचागच्छंति भारत ॥ ३४ ॥
तांश्चैवानय भद्रं ते पानीयं च त्वमानय ॥
भीमसेनस्तथेत्युक्त्वा तं देशं प्रत्यपद्यत ॥ ३५ ॥

अर्थ-शत्रुओंको नाशनेवाले बहुतसे बाणोंको आकाशमें वर्षाताभया यक्ष कहनेलगा हेपार्थ ! तेरा इस विधानसे क्याहै प्रश्नोंको कहकर पीछे पानी पीना ॥ ३१ ॥ प्रश्नोंको नहीं कहकर पानी पीवेगा तो मरजायगा ऐसे उक्त किया सव्यसाची धनंजय अर्जुन ॥ ३२ ॥ उसकी वाणीको नहीं मान पानी पीकर गिरगया पीछे कुंतीपुत्र युधिष्ठिर भीमसेनको कहने लगा ॥ ३३ ॥ हे परंतप! नकुल सहदेव और अर्जुन पानी लानेको बहुत देरसे गये हैं और हे भारत! नहीं आयेहैं॥ ३४ ॥तेरा कल्याण हो उन सबकों ला और पानी ला भीमसेन बचनको अंगीकार कर उस देशको प्राप्त हुआ ॥ ३५ ॥

यत्र ते पुरुषव्याघ्रा भ्रातरोस्य निपातिताः ॥
तान्दृष्ट्वा दुःखितो भीमस्तृषया च प्रपीडितः ॥३६॥
अमन्यत महाबाहुः कर्म तद्यक्षरक्षसाम् ॥
स चिंतयामास तदा योद्धव्यं ध्रुवमद्यवै ॥३७॥
पश्यामि तावत्पानीयमिति पार्थो वृकोदरः ॥
ततोभ्यधावत्पानीयं पिपासुः पुरुषर्षभः ॥ ३८ ॥
यक्षउवाच—मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ॥
प्रश्नानुक्त्वा तु कौंतेय ततः पिब हरस्व च ॥३९॥

एवमुक्तस्तदा भीमो यक्षेणामिततेजसा ॥
अनुक्त्वैव तु तान्प्रश्नान्पीत्वैव निपपातह ॥ ४० ॥

अर्थ--जहां वे भाई गिरे हुये थे उन्होंको देखकर दुःखित हुआ और तृषासे पीडित हुआ ॥ ३६ ॥ महाबाहु यक्ष राक्षसोंका कर्म मानताभया वह चितवन करता भया कि अब मैंने युद्ध करना निश्चयहै ॥ ३७ ॥ पानीको देखूं ऐसे पुरुषोंमें उत्तम भीमसेन पानी पीनेकी इच्छावाला पानीकी तर्फ दौडा ॥ ३८ ॥ यक्ष कहने लगा -हे तात! साहस मतकरै मेरा नियमहै हे कौंतेय! प्रश्नोंको कहकर पीछे पीना और ले जाना ॥ ३९ ॥ अमिततेजवाला यक्षने ऐसे उक्त किया भीम उन प्रश्नोंको नहीं कहकर पानी पीकर गिरगया ॥ ४० ॥

ततः कुंतीसुतो राजा प्रचिंत्य पुरुषर्षभः ॥
समुत्थाय महाबाहुर्दह्यमानेन चेतसा ॥ ४१ ॥
व्यपेतजननिर्घोषं प्रविवेश महावनम् ॥
रुरुभिश्च वराहैश्च पक्षिभिश्च निषेवितम् ॥ ४२ ॥
नीलभास्वरवर्णैश्च पादपैरुपशोभितम् ॥
भ्रमरैरुपगीतं च पक्षिभिश्च महायशाः ॥ ४३ ॥
स गच्छन्कानने तस्मिन् हेमजालपरिष्कृतम् ॥
ददर्श तत्सरः श्रीमान् विश्वकर्मकृतं यथा ॥४४ ॥
उपेतं नलिनीजालैः सिंधुवारैः सचेतसैः ॥
केतकैः करवीरैश्च पिप्पलैश्चैव संकृतम् ॥

श्रमार्तस्तदुपागम्य सरो दृष्ट्वाथ विस्मितः ॥ ४५ ॥
इति युधिष्ठिरगीतायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥
इति दशमं प्रकरणम् ॥ १० ॥

अर्थ--पीछे पुरुषर्षभ राजा युधिष्ठिर चितवन कर महाबाहु दह्यमानचित्त सम्यक् प्रकार उठकर ॥ ४१ ॥ मनुष्यके शब्दसे रहित हुआ महावनमें प्रवेश करता भया रोझ बराह और पक्षियोंसे उपसेवित ॥ ४२ ॥ नीलीकांतिवाले वृक्षोंसे उपशोभित भौंरे और पक्षियोंसे उपगीत ऐसा वनमें बहुत यशवाला युधिष्ठिर गया ॥ ४३ ॥ उस वनमें प्राप्त होता हुआ सोनाके जालसे परिष्कृत उस सरोवरको श्रीमान् देखता भया मानो विश्वकर्म्माका बनायाहै ॥ ४४ ॥ नलिनीके जाल संभालू चित्तवाली केतकी कनेर और पीपल इन्होंसे आच्छादित हुआ वनको प्राप्त हुआ परिश्रमसे पीडित हुआ उस सरोवरको देख पीछे आश्चर्यको प्राप्त हुआ ॥ ४५ ॥

यहां युधिष्ठिरगीतामें दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥
यहां दशमां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ १० ॥

वैशंपायन उवाच—सददर्श हतान् भ्रातॄन् लोकपालानिव च्युतान् ॥ युगांते समनुप्राप्ते शक्रप्रतिमगौरवान् ॥ १ ॥ विनिकीर्णधनुर्बाणं दृष्ट्वा निहतमर्जुनम् ॥ भीमसेनं यमौ चैव निर्विचेष्टान्गतायुषः ॥ २ ॥
सुदीर्घमुष्णं निःश्वस्य शोकबाष्पपरिप्लुतः ॥
तान्दृष्ट्वा पतितान्भ्रातॄन्सर्वांश्चितासमन्वितः ॥ ३ ॥
धर्मपुत्रो महाबाहुर्विललाप सुविस्तरम् ॥

ननु त्वया महाबाहो प्रतिज्ञातं वृकोदर ॥ ४ ॥
सुयोधनस्य भेत्स्यामि गदया सक्थिनी रणे ॥
व्यर्थं तदद्यमे सर्वं त्वयि वीरे निपातिते ॥ ५ ॥

अर्थ—वैशंपायन कहतेहैं—प्रलयमें लोकपालोंकी तरह गिरे हुये और इंद्रकी तरह गौरववाले ऐसे भाइयोंको युधिष्ठिर देखता भया ॥ १ ॥ अलग गिराहै धनुषबाण जिसका ऐसा अर्जुन और भीम नकुल सहदेव इन सबोंको चेष्टासे रहित और मरे हुये देख ॥ २ ॥ बहुत काल रोदन कर शोककी आंशुओंसे भिगा हुआ सब भाइयोंको देख चिंतासे युत हुआ ॥ ३ ॥ महाबाहु युधिष्ठिर बहुत विलाप करने लगा हे महाबाहो! हे वृकोदर! तैंने प्रतिज्ञाकरी ॥ ४ ॥ युद्धमें सुयोधनकी सांथलोंको गदासे तोडूंगा तू वीर निपात होनेमें वह सब मेरा व्यर्थ हुआ॥ ५॥

महात्मनि महाबाहो कुरूणां कीर्तिवर्धने ॥
मनुष्यसंभवा वाचो विधर्मिण्यः प्रतिश्रुताः ॥ ६ ॥
भवतां दिव्यवाचस्तु ता भवंतु कथं मृषा ॥
देवाश्चापि यदावोचन्सूतके त्वां धनंजय ॥ ७ ॥
सहस्राक्षादनवरः कुंति पुत्रस्तवेति वै ॥
उत्तरे पारियात्रे च जगुर्भूतानि सर्वशः ॥ ८ ॥
विप्रनष्टं श्रियंचैषामाहर्ता पुनरंजसा ॥
नास्य जेता रणेकश्चिदजेतानैष कस्यचित् ॥ ९ ॥
सोयं मृत्युवशं यातः कथं जिष्णुर्महाबलः ॥
अयं ममाशां संहत्य शेते भूमौ धनंजयः ॥ १० ॥

अर्थ—महात्मा महाबाहु और कौरवोंकी कीर्तिको बढानेवाला तू है मनुष्यकी कही वाणी मिथ्या होगी ॥ ६ ॥ तुम्हारे लिये कहीं तुझको दिव्यवाणी कैसें मिथ्या होगी हे धनंजय! तेरे जन्ममें देवते कहते भये ॥ ७ ॥ हे कुंति ! तेरा पुत्र इंद्र-सेभी बडाहै उत्तरपारियात्रपर्वतमें सब प्रकारसे प्राणी गाते भये ॥ ८ ॥ बहुत कालसे नष्ट हुई लक्ष्मीको फिर वेगसे हरेगा युद्धमें इसको कोईभी नहीं जीतेगा और यह सबको जीतेगा ॥ ९ ॥ वह महाबली अर्जुन कैसे मृत्युके वश हुआ यह मेरी राज्यकी आशाको नाशकर पृथिवीमें सोताहै ॥ १० ॥

आश्रित्य यं वयं नाथं दुःखान्येतानि सेहिम ॥
रणे प्रमत्तौ वीरौ च सदा शत्रुनिबर्हणौ ॥ ११ ॥
कथं रिपुवशं यातौ कुंतीपुत्रौ महाबलौ ॥
यौ सर्वास्त्राप्रतिहतौ भीमसेनधनंजयौ ॥ १२ ॥
अश्मसारमयं नूनं हृदयं मम दुर्हृदः ॥
यमौ यदेतौ दृष्ट्वाद्य पतितौ नावदीर्यते ॥ १३ ॥
शास्त्रज्ञा देशकालज्ञास्तपोयुक्ताः कृपान्विताः ॥
अकृत्वा सदृशं कर्म किं शेध्वं पुरुषर्षभाः ॥ १४ ॥
अविक्षतशरीराश्चाप्यप्रमृष्टशरासनाः ॥
असंज्ञा भुवि संगम्य किंशेध्वमपराजिताः ॥ १५ ॥

अर्थ—जिस प्रधानके आश्रित होकर इन दुःखोंको हम सहते हैं युद्धमें प्रमत्त वीर और सब काल शत्रुओंको नाशनेवाले ॥ ११ ॥ कुंतीके पुत्र महाबली सब अस्त्रोंसे नहीं हत होनेवा-

ले ऐसे भीमसेन अर्जुन कैसे शत्रुके वशमें प्राप्त हुये ॥ १२ ॥ मुझ दुष्टका हृदय निश्चय पत्थरका है नकुल सहदेव इन दोनोंको गिरे हुयोंको देख नहीं फटता ॥ १३ ॥ शास्त्रको जाननेवाले देशकालको जाननेवाले तप और क्रियासे युत ऐसे तुम पुरुषोंमें उत्तम अपने सदृशकर्म नहीं कर क्यो सोते हो ॥ १४ ॥ नहीं कटे हुये शरीरोंवाले नहीं खुले हुये तरकसोवाले नहीं पराजित हुये संज्ञासे रहित हुये पृथिवीमें क्यों सोतेहो ॥ १५ ॥

सानूनिं वाद्रेः संसुप्तान् दृष्ट्वा भ्रातॄन्महामतिः ॥
सुखं प्रसुप्तान् प्रास्विन्नः खिन्नः कष्टां दशांगतः ॥ १६ ॥
एवमेवेदमित्युक्त्वा धर्मात्मा स नरेश्वरः ॥
शोकसागरमध्यस्थो दध्यौ कारणमाकुलः ॥ १७ ॥
इतिकर्तव्यतां चेति देशकालविभागवित् ॥
नाभिपेदे महाबाहुश्चिंतयानो महामतिः ॥ १८ ॥
अथ संस्तभ्य धर्मात्मा तदात्मानं तपःसुतः ॥
एवं विलप्य बहुधा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १९ ॥
बुद्ध्या विचिन्तयामास वीराः केन निपातिताः ॥२०॥

अर्थ--पर्वतकी गुफाकी तरह सोते हुये भाईयोंको देख सुखपूर्वक सोते हुयोंको देख पसीनासे युत और दुःखित हुआ महामति युधिष्ठिर कष्टदशाको प्राप्त हुआ ॥ १६ ॥ ऐसे हैं ऐसे हैं इसप्रकार कहकर धर्मात्मा राजा शोकसागरके मध्यमें स्थित हो व्याकुल हुआ मरणके कारणको विचारताभया ॥ १७ ॥ देशकालके विभागको जाननेवाला महाबाहु महामति युधिष्ठिर

चितवन करताहुआभी इस कर्तव्यताको नहीं जानता भया १८॥ पीछे धर्मात्मा धर्मपुत्र आपको थाबकर इसप्रकार बहुत विलाप कर धर्मराज युधिष्ठिर ॥ १९ ॥ बुद्धिसे चितवन करनेलगा ये वीर किसने गिरा दिये ॥ २० ॥

नैषां शस्त्रप्रहारोऽस्ति पदं नेहास्ति कस्यचित् ॥
भूतं महदिदं मन्ये भ्रातरो येन मेहताः ॥ २१ ॥
एकाग्रंचिंतयिष्यामि पीत्वा वत्स्यामि वा जलम् ॥
स्यात्तु दुर्योधनेनेदमुपांशु विहितं कृतम् ॥ २२ ॥
गांधारराजरचितं सततं जिह्मबुद्धिना ॥
यस्य कार्यमकार्यं वा सममेव भवत्युत ॥ २३ ॥
कस्तस्य विश्वसेद्वीरो दुष्कृतेरकृतात्मनः ॥
अथवा पुरुषैर्गूढैः प्रयोगोऽयं दुरात्मनः ॥ २४ ॥
भवेदिति महाबुद्धिर्बहुधा तदचिन्तयत् ॥
तस्यासीन्न विशेषेणह्युदकं दूषितं यथा ॥ २५ ॥

अर्थ—इन्होंके शस्त्रका प्रहार नहीं हुआ है और किसीका पद नहीं दीखता जिसने मेरे ये भाई मारे हैं उसको मैं महान् भूतमानता हूं॥ २१ ॥ एकाग्र चितवनकरूंगा अथवा पानी पीकर जानूंगा दुर्योधनने हम नहीं जानसके ऐसा तो नहीं रचा ॥ २२॥ कपटबुद्धिवालाने शकुनिसे रचा दिया हो जिसके कार्य और अकार्य समानहीं हैं ॥ २३ ॥ उस दुष्ट अकृतात्माको कौन विश्वास करे अथवा गूढ पुरुषोंसे यह उसी दुरात्माने करा दिया हो ॥ २४ ॥

इसप्रकार महाबुद्धि युधिष्ठिर बहुत प्रकार चितवन करता भया, परंतु विषसे दूषित पानी तो नहीं है क्योंकि ॥ २५ ॥

मृतानामपि चैतेषां विकृतं नैव जायते ॥
मुखवर्णाः प्रसन्ना मे भ्रातॄणामित्यचिंतयत् ॥ २६ ॥
एकैकशश्चौघबलानिमान्पुरुषसत्तमान् ॥
कोन्यःप्रतिसमासेत कालांतकयमादृते ॥ २७ ॥
एतेन व्यवसायेन तत्तोयं व्यवगाढवान् ॥
गाहमानश्च तत्तोयमंतरिक्षात्स शुश्रुवे ॥ २८ ॥
यक्ष उवाच—अहं बकः शैवलमत्स्यभक्षा नीता मया
प्रेतवशं तवानुजाः ॥ तं पंचमो भविता राजपुत्र
नचेत्प्रश्नान्पृच्छतो व्याकरोषि ॥ २९ ॥
मातातसाहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ॥
प्रश्नानुक्त्वा तु कौंतेय ततः पिब हरस्व च ॥ ३० ॥

अर्थ--इन मरे हुयोंकेभी विकार नहीं उपजा मेरे भाइयोंके मुखवर्ण सुंदरहैं ऐसे चितवन करता भया ॥ २६ ॥ ये पुरुषोंमें अत्यंत उत्तम हैं इन्हों विषै एक एकमेंभी बहुत बलहै कालरूपी यमके विना मारनेको कोई समर्थ नहीं॥ २७॥ इस निश्चयसे उस पानीमें प्राप्त हुवा पानीको ग्रहण करता हुआ आकाशसे सुनता भया ॥ २८ ॥ यक्ष कहने लगा-शैवल मछली खानेवाला मैं बगला हूं मैंने तेरे छोटे भाई मार दिये हैं हे राजपुत्र ! मेरे प्रश्नोंको कहेविना पानी पीवेगा तो तूभी मरजा-

वेगा॥ २९॥ हे तात! साहस मतकरै मेरा नियमहै. हे कौंतेय!
प्रश्नोंको कहकर पीछे पानी पीना और ले जाना ॥ ३० ॥

॥र उवाच ॥

रुद्राणां वा वसूनां वा मरुतां वा प्रधानभाक् ॥
पृच्छामि को भवान्देवो नैतच्छकुनिना कृतम्॥३१ ॥
हिमवान्पारियात्रश्च विन्ध्यो मलय एव च ॥
चत्वारः पर्वताः केन पातिता भूरितेजसः ॥ ३२ ॥
अतीव ते महत्कर्म कृतं च बलिनां वर ॥
यन्न देवा न गंधर्वा नासुराश्च न राक्षसाः ॥ ३३ ॥
विषहेरन्महायुद्धे कृतं ते तन्महाद्भुतम् ॥
न ते जानामि यत्कार्यं नाभिजानामि कांक्षितम्॥३४॥
कौतूहलं महज्जातं साध्वसं चागतं मम ॥
येनास्म्युद्विग्नहृदयः समुत्पन्नशिरोज्वरः ॥ ३५ ॥

अर्थ--युधिष्ठिर कहने लगा-रुद्रोंमें अथवा वसुवोंमे अथवा मरुतोंमें प्रधान तू कौन देवहै मैं पूछताहूं यह शकुनिने नहीं किया ॥ ३१ ॥ हिमवान् पारियात्र विंध्य मलय ये बहुत तेजवाले चारों पर्वत किसने गिरायेहैं ॥ ३२ ॥ हेबलिनांवर तेरा अत्यंत बडा कर्म्महै जिन्होंको न देवते न गंधर्व न दैत्य और न राक्षस ॥ ३३ ॥ महायुद्धमें नहीं मारसके वे तैंने मारे यह आश्चर्य्य तैंने कियाहै तेरा कार्यको मैं नहीं जानता और तेरा वांछितकोभी नहीं जानता ॥ ३४ ॥ बडा कौतूहल हुआ मुझें भय हुआहै जिस्से उद्विग्न हृदयवाला हुआहूं और शिरमें ज्वर उपजा ॥ ३५ ॥

पृच्छामि भगवंस्तस्मात्को भवानिह तिष्ठति ॥
यक्ष उवाच—यक्षोहमस्मि भद्रं ते नास्मि पक्षो जलेचरः ॥
मयैते निहताः सर्वे भ्रातरस्ते महौजसः ॥ वैशंपायन
उवाच—ततस्तामशिवां श्रुत्वा वाचं सपरुषाक्षराम् ३७
यक्षस्य ब्रुवतो राजन्नपक्रम्य तदा स्थितः ॥
विरूपाक्षं महाकायं यक्षं तालसमुच्छ्रयम् ॥ ३८ ॥
ज्वलनार्कप्रतीकाशमधृष्यं पर्वतोपमम् ॥
वृक्षमाश्रित्य तिष्ठंतं ददर्श भरतर्षभः ॥ ३९ ॥
मेघगंभीरनादेन तर्जयंतं महास्वनम् ॥
यक्ष उवाच--इमे ते भ्रातरो राजन् वार्यमाणा मयासकृत् ॥

अर्थ--हे भगवन् ! तिस कारणसे पूछताहूं तुम कौन यहां स्थित हो यक्ष बोला—मैं यक्ष हूं तेरा कल्याण हो पानीमें विचरनेवाला पक्षी नहीं हूं ॥ ३६ ॥ तेरे बहुत पराक्रमवाले भाई मैंने मारे हैं वैशंपायन कहते हैं—पीछे कठोर अक्षरोंवाली अपवित्र वाणी सुन ॥ ३७ ॥ कहता हुआ यक्षको देख पानीसे उलटा हट स्थित हुआ बिगडे हुये रूप और नेत्रोंवाला बडा शरीरवाला ताडं वृक्षके समान ऊंचा ॥ ३८ ॥ अग्नि और सूर्यके समान तेजवाला असह्य पर्वतके समान और वृक्षके आश्रित होकर स्थित हुआ ऐसा यक्षको राजा युधिष्ठिर देखता भया ॥ ३९ ॥ मेघके गम्भीर शब्दसे तर्जित करताहुआ और महाशब्दवाला यक्षको देखताभया हे राजन् ये तेरे भाई मैनें वारंवार वर्जित किये ॥ ४० ॥

बलात्तोयं जिहीर्षंतस्ततो वै मृदिता मया ॥
नपेयमुदकं राजन् प्राणानिलपरीप्सया ॥ ४१ ॥
पार्थ मा साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ॥
प्रश्नानुक्त्वा तुकौंतेय ततः पिब हरस्वं च ॥ ४२ ॥
युधिष्ठिर उवाच—न चाहं कामये यक्ष तव पूर्वपरिग्रहम्॥
कामं नैतत्प्रशंसंति संतो हि पुरुषाः सदा ॥ ४३ ॥
यदात्मना स्वमात्मानं प्रशंसेत्पुरुषर्षभ ॥
यथाप्रज्ञं तु ते प्रश्नान्प्रतिवक्ष्यामि पृच्छ माम् ॥ ४४ ॥
यक्ष उवाच—किंस्विदादित्यमुत्तपति केच तस्याभित-श्चराः॥ कश्चैनमस्तं नयति कस्मिश्च प्रतितिष्ठति॥४५॥

अर्थ—बलसे पानी लेनेकी इच्छा करने लगे तब मैंने मारे है. हे राजन् ! प्राण रखनेकी इच्छावालाने यह पानी नहीं पीना ॥ ४१ ॥ हे पार्थ ! साहस मत करे मेरा नियम है कौंतेय प्रश्नोंको कहकर पीछे पानी पीना और लेना ॥ ४२ ॥ युधिष्ठिर बोला—तेरा नियम मैं तोड़ना नहीं चाहता सदा संत पुरुष इसकामको नहीं चाहते ॥ ४३ ॥ हे पुरुषर्षभ ! जिसकारणसे लिखा है कि आत्मासेही आत्माका स्वरूप कहना उचित है इस लिये जैसी मेरी बुद्धि है उसके अनुसार तेरे प्रश्नोंको कहूंगा मुझसे पूंछ ॥ ४४ ॥ यक्ष कहने लगा—यह प्रश्नोत्तरमालिका आत्मतत्वके निर्णयके लिये आरंभ करी है आदित्यको कौन ऊंचे मार्ग प्राप्त करता है उसके सब तर्फ कौन विचरते हैं इसको अस्त कौन करता है और यह किसमें स्थित होता है ॥ ४५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—ब्रह्मादित्यमुत्तपाति देवास्तस्याभि-
तश्वराः॥धर्मश्चास्तं नयति च सत्येच प्रतितिष्ठति ४६॥
यक्ष उवाच—केनस्विच्छ्रोत्रियो भवति केनस्विद्विंदते
महत्॥केनस्विद्द्वितीयवान् भवति राजन्केन च बु-
द्धिमान् ॥ ४७ ॥ युधिष्ठिर उवाच—श्रुतेन श्रोत्रियो
भवति तपसा विंदते महत्॥धृत्या द्वितीयवान्भवति
बुद्धिमान्वृद्धसेवया ॥ ४८ ॥ यक्ष उवाच—किं
ब्राह्मणानां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव॥कश्चैषां मानु-
षो भावः किमेषामसतामिव ॥ ४९ ॥ युधिष्ठिर
उवाच—स्वाध्याय एषां देवत्वं तप एषां सतामिव ॥
मरणं मानुषोभावः परिवादोऽसतामिव ॥ ५० ॥

अर्थ--युधिष्ठिर बोला--शब्दआदिको श्रोत्रआदिसे ग्रहण करताहै इसलिये आदित्य नाम जीवकाहै गौरहूं अंधाहूं दुःखीहूं कर्ताहूं इस आदि अनुभवसे विकल्प्यमान जीवको ब्रह्म अर्थात् वेद देह आदिसे पृथक् करता है शंकाहै सभी वेदसे आत्माको जानतेहैं इसलिये कहतेहैं देव अर्थात् शम आदि उसके सहायक हैं कर्म उपासनारूप धर्म हार्दाकाशरूप स्वस्थानमें प्राप्तकरताहै वह ऐसे संग्राम ब्रह्मभावको प्राप्तहो सत्य अर्थात् शुद्ध चि-न्मात्रमें प्रतिष्ठित होताहै ॥ ४६ ॥ यक्ष कहने लगा—किसकरके श्रोत्रिय होताहै किसकरके महान् पदको प्राप्त होताहै किसकरके द्वितीयवान् होताहै और हे राजन् ! किसकरके बुद्धिमान् होता-है ॥ ४७ ॥ युधिष्ठिर बोला--श्रुत अर्थात् आचार्यके मुखसे

वेदके अर्थको अवधारणसे श्रोत्रिय होताहै तप अर्थात् सुना अर्थको विचारनेसे महत् अर्थात् ब्रह्मको जानताहै जिस्से मन प्राण इंद्रिय क्रिया धारित हों उस धृतिसे द्वितीय रूपवान् होताहै वृद्धोंकी सेवासे बुद्धिमान् होताहै ॥ ४८ ॥ यक्ष कहने लगा—ब्राह्मणोंको देवत्व क्या है ब्राह्मणोंको सत् पुरुषोंकी तरह धर्म क्याहै ब्राह्मणोंका मनुष्यभाव क्या है ब्राह्मणोंका असत् पुरुषोंकी तरह अधर्म क्या है ॥ ४९ ॥ युधिष्ठिर बोला ब्राह्मणोंके स्वाध्याय अर्थात् वेद पढना देवत्व है तप और शम आदि सद्धर्म है देहआदिका अभिमान मानुषभाव अर्थात् जन्म मरण देताहै देवब्राह्मणदूषण असद्धर्म है ॥ ५० ॥

यक्ष उवाच—किं क्षत्रियाणां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव ॥
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव ॥ ५१ ॥
युधिष्ठिर उवाच-इष्वस्त्रमेषां देवत्वं यज्ञ एषां सतामिव॥
भयं वै मानुषो भावः परित्यागोऽसतामिव ॥ ५२ ॥
यक्ष उवाच -किमेकं यज्ञियं साम किमेकं यज्ञियं यजुः॥
का चैषां वृणते यज्ञं कान्यज्ञो नाति वर्त्तते ॥ ५३ ॥
युधिष्ठिर उवाच--प्राणो वै यज्ञियं साम मनो वै यज्ञियं यजुः ॥ ऋगेका वृणते यज्ञं तापसो नातिवर्तते ॥ ५४ ॥
यक्ष उवाच—किंस्विदावपतां श्रेष्ठं किंस्विन्निवपतां वरम् ॥ किंस्वित्प्रतिष्ठमानानां किंस्वित्प्रसवतां वरम् ॥

अर्थ—यक्ष कहने लगा—क्षत्रियोंका देवत्व क्या है इन्होंका सत्पुरुषोंकी तरह धर्म क्या है इन्होंका मनुष्यभाव क्या है

इन्हांका असत् पुरुषोंकी तरह क्या है ॥ ५१ ॥ युधिष्ठिर बोला—क्षत्रियोंका इष्वस्त्र देवत्वहै इन्होंको यज्ञ करना सत्पुरुषोंकी तरहहै भय मानुषभावहै आर्त्तका त्याग असत्पुरुषोंकी तरह है ॥ ५२ ॥ यक्ष कहने लगा— एक यज्ञिय साम क्या है एक यज्ञिय यजु क्या है इन्होंके यज्ञको कौन करताहै किसको यज्ञ नहीं अतिवर्तित होताहै ॥ ५३ ॥ युधिष्ठिर बोला—प्राण और मखनके साम यजुकी तरह ज्ञान यज्ञके उपकारकहै मुख्य ऋचा यज्ञ अर्थात् ज्ञानको अंगीकार करतीहै अर्थात् ज्ञानको उपजाती है उसको यज्ञ नहीं लंघित करताहै ॥ ५४ ॥ यक्ष कहने लगा—सब तरह देवतोंको तृप्त करनेवालोंमें श्रेष्ठ क्या है पितरोंको तृप्त करनेवालोंमें श्रेष्ठ क्या है यहांही प्रतिष्ठा चाहनेवालोंको श्रेष्ठहै संतानकी इच्छावालोंको उत्तम क्या है ॥ ५५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—वर्षमावपतां श्रेष्ठं बीजं निवपतां वरम् ॥ गावः प्रतिष्ठमानानां पुत्रः प्रसवतां वरः॥५६॥ यक्ष उवाच—इंद्रियार्थाननुभवन्बुद्धिमान् लोकपूजितः ॥ संमतः सर्वभूतानामुच्छ्वसन्को न जीवति ॥ ॥ ५७ ॥ युधिष्ठिर उवाच—देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्चयः ॥ ननिर्वपति पंचानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥५८॥ यक्ष उवाच—किंस्विद्गुरुतरंभूमेःकिंस्विदुच्चतरं च खात्॥ किंस्विच्छीघ्रतरं वायोः किंस्विद्बहुतरं तृणात् ॥ ५९ ॥ युधिष्ठिर उवाच—

मातागुरुतराभूमेः खात्पितोच्चतरस्तथा ॥ मनःशीघ्रतरं वाताच्चिंता बहुतरी तृणात् ॥ ६० ॥

युधिष्ठिर बोला—शम आदि और प्राणजय आदिके असंभवमें यज्ञ आदि करना उचितहै सब तरह देवतोंको तृप्त करनेवालोंको वर्षा श्रेष्ठ फलहै यह सबोंका उपकार करतीहै पितरोंको तृप्त करनेवालोंका श्रेष्ठ फल बीज अर्थात् क्षेत्रबाग आदि आत्मोपकारक हैं प्रसन्न हुये पितर आयु संतान धन विद्या स्वर्ग मुक्ति और सुखको देतेहैं यहां प्रतिष्ठा चाहनेवालोंको गौ श्रेष्ठहै संतानकी इच्छावालोंको पुत्र श्रेष्ठहै क्यों कि गौ होनेसे अतिथिकी तृप्ति हो सक्तीहै और पुत्र होनेसे श्राद्धआदि हो सक्तेहैं ॥ ५६ ॥ यक्ष कहने लगा--शब्दआदिको ग्रहण करता हुआ बुद्धिमान् धनआदि होनेसे पूजित और दान आदिका अधिकारिपनेसे संमत हुआ ऐसा अच्छी तरह श्वासलेता हुआ कौन नहीं जीवताहै ॥ ५७ ॥ युधिष्ठिर बोला—देवता अतिथि भृत्य पितर और आत्मा इन्होंको जो नहीं देता वह श्वास लेता हुआ भी नहीं जीवताहै ॥ ५८ ॥ यक्ष कहने लगा--पृथिवीसे अत्यंत भारी कौनहै और आकाशसे अत्यंत ऊंचा कौनहै वायुसे अत्यंत शीघ्र कौनहै तृणसे अत्यंत बहुत कौनहै ॥ ५९ ॥ युधिष्ठिर बोला--उक्त साधनके अभावमें मातापिताकी टहल मनको रोकना और तुच्छ चिंताका त्याग करना इसलिये कहतेहैं माता पृथिवीसे अत्यंत भारीहै व पिता आकाशसे अत्यंत ऊंचाहै मन वायुसे अत्यंत शीघ्रहै चिंता तृणसे अत्यंत बहुतहै ॥ ६० ॥

यक्ष उवाच–किंस्वित्सुप्तं न निमिषति किंस्विज्जातं न चोपति ॥ कस्यस्विद्धृदयं नास्ति किंस्विद्वेगेन वर्द्धते ॥ ६१ ॥ युधिष्ठिर उवाच–मत्स्यः सुप्तो न निमिषत्यंडं जातं नचोपति॥अश्मनो हृदयं नास्ति नदी वेगेन वर्धते ॥ ६२ ॥ यक्ष उवाच–किंस्वित्प्रवसतो मित्रं किंस्विन्मित्रं गृहे सतः ॥ आतुरस्य च किं मित्रं किंस्विन्मित्रं मरिष्यतः ॥६३॥ युधिष्ठिर उवाच–सार्थः प्रवसतो मित्रं भार्या मित्रं गृहे सतः ॥ आतुरस्य भिषङ् मित्रं दानं मित्रं मरिष्यतः ॥ ६४ ॥ यक्ष उवाच--कोतिथिः सर्वभूतानां किंस्विद्धर्मं सनातनम् ॥ अमृतं किंस्विद्राजेंद्र किंस्वित्सर्वमिदं जगत् ॥ ६५ ॥

अर्थ–यक्ष कहने लगा--सोता हुआ कौन नहीं आंखमीचताहै उत्पन्न हुआ कौन नहीं टहलता किसके हृदा नहींहै वेगसे कौन बढताहै ॥ ६१ ॥ मत्स्यकी तरह मत्स्य जीव जाग्रत् स्वप्नमें अथवा इस लोकपरलोकमेंके तीरोंपर संचारसे सुप्त हुआ अपना स्थानभूत सद्ब्रह्मको प्राप्त हुआ मनकी तरह लुप्त दृष्टिवाला नहीं होता अंड अर्थात् पिंड ब्रह्मांडरूप उत्पन्न हुआ नहीं चलता निवृत्त देहवाला योगीके हृदय अर्थात् शोकस्थान नहीं होता चित्तकी नदी वेगसे व.तीहै ॥ ६२ ॥ चलनेवालाका मित्र कौनहै घरमें रहनेवालेका मित्र कौनहै रोगीका मित्र कौनहै मरनेवालेका मित्र कौनहै ॥ ६३ ॥ युधिष्ठिर बोला--मनको रोकनेमें असमर्थको दान श्रेयहै इस

लिये कहताहै चलनेवालाका मित्र सार्थ अर्थात् धनसवारी सेवकहै घरमें रहनेवालेका मित्र भार्याहै रोगीका मित्र वैद्यहै मरनेवालेका मित्र दानहै ॥ ६४ ॥ यक्ष कहने लगा--सब प्राणियोंका अतिथि कौनहै सनातन धर्म क्याहै ? हे राजेंद्र अमृत क्याहै यह संपूर्ण जगत् क्याहै ॥ ६५ ॥

युधिष्ठिर उवाच–अतिथिः सर्वभूतानामग्निः सोमोग-
वामृतम् ॥ सनातनोऽमृतो धर्मो वायुः सर्वमिदं जगत्
॥ ६६ ॥ यक्ष उवाच–किंस्विदेको विचरते जातः
को जायते पुनः ॥ किंस्विद्धिमस्य भैषज्यं किंस्वि-
दावपनं महत् ॥ ६७ ॥ युधिष्ठिर उवाच–सूर्य
एको विचरते चंद्रमा जायते पुनः ॥ अग्निर्हिमस्य
भैषज्यं भूमिरावपनं महत् ॥ ६८ ॥ यक्ष उवाच–
किंस्विदेकपदं धर्म्यं किंस्विदेकपदं यशः ॥ किं-
स्विदेकपदं स्वर्ग्यं किंस्विदेकपदं सुखम् ॥ ६९ ॥
युधिष्ठिर उवाच–दाक्ष्यमेकपदं धर्म्यं दानमेक-
पदं यशः ॥ सत्यमेकपदं स्वर्ग्यं शीलमेकपदं
सुखम् ॥ ७० ॥

अर्थ- युधिष्ठिर बोला-सर्व प्राणियोंका अतिथि अग्नि है गौका दूध सोम अर्थात् होतव्यहै यही सनातन धर्म मोक्षका हेतुहै यही वायु सब जगत्है अर्थात् मोक्षका द्वारहै ॥ ६६ ॥ यक्ष कहने लगा-एक कौन विचरताहै जन्मकर फिर कौन उपजताहै हिमका औषध क्याहै बडा आवपन क्याहै ॥ ६७ ॥ युधि-

ष्ठिर बोला-सूर्यकी तरह चित्त प्रकाशक आत्मा एकहीहै अवि-द्याके वशसे चंद्रमा अर्थात् मन फिर उपजताहै वही जगत्को कल्पताहै हिम अर्थात् अविद्या जाड्यको अग्नि अर्थात् तत्त्वमसि आदिवाणी रोध अर्थात् निवारकहै भूमि अर्थात् शरीर आव-पन अर्थात् अविद्याका निधानपात्रहै ॥ ६८ ॥ यक्ष कहने लगा-एक पद धर्म्य क्याहै एक पद यश क्याहै एक पद स्वर्ग्य क्याहै एक पद सुख क्याहै ॥ ६९ ॥ युधिष्ठिर बोला—दाक्ष्य एक पद धर्म्यहै दान एक पद यशहै सत्य एक पद स्वर्ग्यहै शील एक पद सुखहै दाक्ष्यमें संपूर्ण धर्म स्थितहैं ॥ ७० ॥

यक्ष उवाच—किंस्विदात्मा मनुष्यस्य किंस्विद्दैव-कृतःसखा ॥ उपजीवनं किंस्विदस्य किंस्विदस्य परायणम्॥७१॥युधिष्ठिर उवाच—पुत्र आत्मा मनु-ष्यस्य भार्या दैवकृतः सखा ॥ उपजीवनं च पर्ज-न्यो दानमस्य परायणम् ॥ ७२ ॥ यक्ष उवाच - धन्यानामुत्तमं किंस्विद्धनानां स्यात्किमुत्तमम् ॥ लाभानामुत्तमं किंस्यात्सुखानां स्यात्किमुत्तमम् ७३ ॥ युधिष्ठिर उवाच—धन्यानामुत्तमं दाक्ष्यं धनानामु-त्तमं श्रुतम्॥लाभानां श्रेय आरोग्यं सुखानां तुष्टि-रुत्तमा ॥ ७४ ॥ यक्ष उवाच—कश्च धर्मः परो लोके कश्च धर्मः सदाफलः ॥ किं नियम्य न शोचंति कैश्च संधिर्न जीर्यते ॥ ७५ ॥

अर्थ—यक्ष कहने लगा—मनुष्यका आत्मा क्याहै दैवकृत सखा

कौनहै इसका उपजीवन क्याहै इसका परायण क्याहै ॥ ७१ ॥ युधिष्ठिर बोला—मनुष्यका आत्मा पुत्रहै दैवकृत सखा भार्याहै उपजीवन मेघहै इसका परायण दानहै ॥ ७२ ॥ यक्ष कहने लगा धन्योंमें उत्तम क्याहै धनोंमें उत्तम क्याहै लाभोंमें उत्तम क्याहै सुखोंमे उत्तम क्याहै॥ ७३ ॥ युधिष्ठिर बोला—धन्योंमें उत्तम दाक्ष्य अर्थात् चतुराईहै धनोमें उत्तम श्रुतहै लाभोंमें अत्यंत उत्तम आरोग्यहै सुखोंमें उत्तम संतोष है॥ ७४ ॥ यक्ष कहनेलगा—लोकमें परम धर्म कौनहै सबकाल फलनेवाला धर्म कौनहै किसका नियम कर पुरुष शोचको नहीं करते और किन्होंके संग मित्रता पुरानी नहीं होती ॥ ७५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—आनृशंस्यं परोधर्मस्त्रयीधर्मः सदाफलः ॥ मनो यम्य न शोचंति संधिः सद्भिर्न जीर्यते ॥ ७६ ॥ यक्ष उवाच—किंनु हित्वा प्रियो भवति किं नु हित्वा न शोचति ॥ किंनु हित्वार्थवान् भवति किंनु हित्वा सुखी भवेत् ॥ ७७ ॥ युधिष्ठिर उवाच—मानं हित्वा प्रियो भवति क्रोधं हित्वा न शोचति॥ कामं हित्वार्थवान् भवति लोभं हित्वा सुखी भवेत् ॥ ७८ ॥ यक्ष उवाच--किमर्थं ब्राह्मणे दानं किमर्थं नटनर्तके ॥ किमर्थं चैव भृत्येषु किमर्थं चैव राजसु ॥ ७९ ॥ युधिष्ठिर उवाच-- धर्मार्थं ब्राह्मणे दानं यशोर्थं नटनर्तके ॥ भृत्ये सुभरणार्थं वै भयार्थं चैव राजसु ॥ ८० ॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोला--सब प्राणियोंको अभय देना यह परम धर्महै ओंकार रूप ब्रह्ममें निष्ठ होना यह धर्म सबकाल फलताहै मनको रोक कर मनुष्य शोच नहीं करते सत्पुरुषोंसे मित्रता पुरानी नहीं होती ॥ ७६ ॥ यक्ष कहने लगा–किसको त्याग प्रिय होताहै क्या देकर शोच नहीं करता क्या त्यागकर अर्थ-वान् होताहै किसको त्यागकर सुखी होताहै ॥ ७७ ॥ युधिष्ठिर बोला–मानको त्याग प्रिय होताहै क्रोधको त्याग शोच नहीं करता कामको त्याग अर्थवान् होताहै लोभको त्याग सुखी होताहै ॥ ७८ ॥ यक्ष कहने लगा–ब्राह्मणको दान क्यों देतेहैं और नाचनेवालेको दान क्यों देतेहैं नौकरोंको दान क्यों देतेहैं राजाओंको दान क्यों देतेहैं ॥ ७९ ॥ युधिष्ठिर बोला–धर्मके लिये ब्राह्मणको दान देतेहैं यशके लिये नट और नाचने-वालोंको दान देतेहैं पोषणके लिये नौकरोंको दान देतेहैं भयके लिये राजाको दान देतेहैं ॥ ८० ॥

यक्ष उवाच--केनस्विदावृतो लोकः केनास्विन्न प्रकाशते ॥ केन त्यजति मित्राणि केन स्वर्गं न गच्छति ॥ ८१ ॥ युधिष्ठिर उवाच--अज्ञानेनावृतो लोकस्तमसा न प्रकाशते॥लोभस्त्यजति मित्राणि संगात्स्वर्गं न गच्छति ॥ ८२ ॥ यक्ष उवाच--मृतः कथं स्यात्पुरुषः कथं राष्ट्रं मृतं भवेत् ॥ श्राद्धं मृतं कथं वा स्यात्कथं यज्ञो मृतो भवेत् ॥ ८३ ॥ युधिष्ठिर उवाच--मृतो दरिद्रः पुरुषो मृतं राष्ट्रम-

राजकम् ॥ मृतमश्रोत्रियं श्राद्धं मृतो यज्ञस्त्वदक्षिणः ॥८४॥ यक्ष उवाच--का दिक्किमुदकं प्रोक्तं किमन्नं किंच वै विषम् ॥ श्राद्धस्य कालमाख्याहि ततः पिब हरस्व च ॥ ८५ ॥

अर्थ—यक्ष कहने लगा—लोक किससे आच्छादितहैं किस करके नहीं प्रकाशित होता किसकरके मित्रोंको त्यागताहै किसकरके स्वर्गको नहीं जाता ॥ ८१ ॥ युधिष्ठिर बोला-- संसार अज्ञानसे आच्छादितहै तमोगुणसे प्रकाशित नहीं होता लोभसे मित्रोंको त्यागताहै संगसे स्वर्गको नहीं प्राप्त होता इस लिये लोभ और संगको त्यागकर ज्ञानही साधना उचितहै ॥ ॥ ८२ ॥ यक्ष कहने लगा -पुरुष कैसे मृत होताहै देश कैसे मृत होताहै श्राद्ध कैसे मृत होताहै यज्ञ कैसे मृत होताहै॥८३॥ युधिष्ठिर बोला—दरिद्र अर्थात् लुब्धचित्तवाला पुरुष मृत है जैसे नष्टप्राणवाला शरीर वृथाहै तैसे मृतहै तैसे दरिद्र जीवता हुआ मृतहै वेदपाठीसे रहित श्राद्ध मृतहै दक्षिणारहित यज्ञ मृतहै॥८४॥ यक्ष कहने लगा—दिशा क्याहै जल क्याहै अन्न क्याहै विष क्या है श्राद्धका काल कह पीछे पानी पीना और लेजाना ॥ ८५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—सन्तो दिग्जलमाकाशं गौरन्नं प्रार्थना विषम् ॥ श्राद्धस्य ब्राह्मणः कालः कथं वा यक्ष मन्यसे ॥ ८६ ॥ यक्ष उवाच—तपः किंलक्षणं प्रोक्तं को दमश्च प्रकीर्त्तितः॥क्षमा च का परा प्रोक्ता काच ह्रीः परिकीर्त्तिता ॥ ८७॥ युधिष्ठिर उवाच—

तपः स्वधर्मवर्तित्वं मनसो दमनं दमः ॥ क्षमा द्वंद्वसहिष्णुत्वं ह्रीरकार्य निवर्तनम् ॥ ८८ ॥ यक्ष उवाच--किं ज्ञानं प्रोच्यते राजन् कः शमश्च प्रकीर्तितः॥दया च का परा प्रोक्ता किं चार्जवमुदाहृतम् ॥८९॥ युधिष्ठिर उवाच--ज्ञानन्तत्वार्थबोधश्च शमश्चित्तप्रशांतता ॥ दयासर्वसुखैषित्वमार्जवं समचित्तता ॥९०॥

अर्थ--युधिष्ठिर बोला—संत• अर्थात् वेदप्रमाणमें निष्ठ हुये दिक् अर्थात् उपदेष्टा है आचार्यके वचनसे ब्रह्म जानना उचित है जल अर्थात् पिंड ब्रह्मांडात्मक कार्य और तदभिमानी जीव आकाश अर्थात् तदभिमानी ईश्वर है गौ अर्थात् इंद्रिय अन्न अर्थात् प्रविलय करनी उचित है प्रार्थना अर्थात् काम विष अर्थात् विषकी तरह विष है जन्ममरनेके हेतूसे इस लिये कामको त्याग गुरूके उपदेशसे प्रपंचको प्रलयकर प्रत्यक्ब्रह्मका अभेद साक्षात् करना—ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवित् श्राद्ध अर्थात् श्रद्धासे प्रदेयका काल अर्थात् समय है. हे यक्ष ! तेरे मतमें इस करके कृतकृत्य हुआ या नहीं यह प्रश्नका अभिप्राय है ॥८६॥ यक्ष कहने लगा—तप क्या लक्षणोंवाला कहा है दम क्या कहा है उत्तम क्षमा क्या कही है ह्री क्या कही है ॥ ८७ ॥ तप आदि आठ ज्ञानके साधन हैं उन्होंके लक्षण कहता है. युधिष्ठिर बोला-- आपना धर्ममें वर्तना तप है मनको दमन करना दम है द्वंद्व अर्थात् दुःख सुख आदिको सहना क्षमा है अकार्यसे दूर रहना ह्री अर्थात् लज्जा है ॥ ८८ ॥ यक्ष कहने लगा हे राजन् ! ज्ञान

क्या होता है शम क्या कहा है उत्तम दया क्या कही है आ-र्जव क्या कहा है॥८९॥ युधिष्ठिर बोला—तत्व अर्थका सम्यक् बोध ज्ञान होता है चित्तका शान्तपना शम कहाता है सबको सुख चाहना दया होती है समानचित्तरहना आर्जव होता है ९०॥

यक्ष उवाच—कः शत्रुर्दुर्जयः पुंसां कश्च व्याधिरनंतकः॥
कीदृशश्च स्मृतः साधुरसाधुः कीदृशः स्मृतः॥९१॥
युधिष्ठिर उवाच—क्रोधः सुदुर्जयः शत्रुर्लोभो व्याधिर-
नंतकः॥सर्वभूतहितः साधुरसाधुर्निर्दयःस्मृतः॥९२॥
यक्ष उवाच—को मोहः प्रोच्यते राजन् कश्च मानः प्र-
कीर्त्तितः॥ किमालस्यं च विज्ञेयं कश्च शोकः प्रकी-
र्तितः॥९३॥ युधिष्ठिर उवाच—मोहो हि धर्ममूढ-
त्वं मानस्त्वात्माभिमानिता॥ धर्मनिष्क्रियता-
लस्यं शोकस्त्वज्ञानमुच्यते॥९४॥ यक्ष उवाच—
किं स्थैर्यमृषिभिः प्रोक्तं किञ्च धैर्यमुदाहृतम्॥
स्नानं च किं परं प्रोक्तं दानं च किमिहोच्यते॥९५॥

अर्थ—यक्ष कहने लगा--पुरुषोंके दुर्जय शत्रु कौन है अनंत व्याधि कौन है साधु कौन कहा है असाधु कैसा कहा है॥९१॥ युधिष्ठिर बोला--क्रोध दुर्जय शत्रु है लोभ अनंत व्याधि है सब प्राणियोंका हित चाहनेवाला साधु है निर्दय असाधु कहाहै क्रोध लोभ और निर्दयपनाको त्याग सब प्राणियोंका हित करना॥९२॥ यक्ष कहने लगा—हे राजन्! मोह क्या कहाता है मान क्या कहा है आलस्य क्या जानना शोक क्या कहा है॥९३॥

युधिष्ठिर बोला--धर्ममें मूढपना मोह है आपेका अभिमान मान होता है धर्मकी क्रिया नहीं करनी आलस्य है अज्ञान शोक कहाताहै॥ ९४ ॥ यक्ष कहने लगा—ऋषियोंने स्थैर्य क्या कहा है धैर्य क्या कहा है परम स्नान क्या कहा है दान क्या कहाता है९५

युधिष्ठिर उवाच--स्वधर्मे स्थिरता स्थैर्य्यं धैर्यमिंद्रियनिग्रहः॥ स्नानं मनोमलत्यागो दानं वै भूतरक्षणम् ॥ ९६ ॥ यक्ष उवाच—कः पंडितः पुमान् ज्ञेयो नास्तिकः कश्च उच्यते ॥ को मूर्खः कश्च कामःस्यात्को मत्सर इति स्मृतः ॥९७॥ युधिष्ठिर उवाच—धर्मज्ञः पंडितो ज्ञेयो नास्तिको मूर्ख उच्यते॥कामः संसारहेतुश्च हृत्तापो मत्सरः स्मृतः ॥ ९८ ॥ यक्ष उवाच—कोहंकार इति प्रोक्तः कश्च दंभः प्रकीर्तितः॥ किं तद्दैवं परं प्रोक्तं किंतत्पैशुन्यमुच्यते ॥ ९९ ॥ युधिष्ठिर उवाच--महाज्ञानमहंकारो दंभो धर्मध्वजोच्छ्रयः॥दैवं दानफलं प्रोक्तं पैशुन्यं परदूषणम् १००॥

अर्थ--युधिष्ठिर बोला--अपना धर्ममें स्थिरता स्थैर्यहै इंद्रियोंको रोकना धैर्य्यहै मनके मलको त्यागना स्नानहै प्राणियोंकी रक्षा करनी दानहै ॥ ९६ ॥ यक्ष कहने लगा—कौन पुरुष पंडित जानना कौन नास्तिक कहाताहै मूर्ख कौनहै काम क्याहै मत्सर क्या कहाहै ॥ ९७ ॥ युधिष्ठिर बोला -धर्मको जाननेवाला पंडित जानना नास्तिक अर्थात् परलोकको नहीं माननेवाला मूर्ख कहाताहै संसारकी वासना कामहै हृदयका ता

मत्सर कहाहै ॥ ९८ ॥ यक्ष कहने लगा—अहंकार क्या कहाहै दंभ क्या कहाताहै परम दैव क्या कहाहै पैशुन्य क्या कहाताहै ॥ ९९ ॥ युधिष्ठिर बोला--महा अज्ञान अहंकारहै संसारमें ख्यातिके लिये किया धर्म दंभ कहाताहै दानका फल दैवहै दूसराको दूषित करना पैशुन्यहै दंभ अभिमान पैशुन्य इन्होंको त्याग दैवाधीन यदृच्छालाभसे संतुष्ट हुआ दंभ और कामसे रहित धर्मका आचरण करै ॥ १०० ॥

यक्ष उवाच--धर्मश्चार्थश्च कामश्च परस्परविरोधिनः॥
एषां नित्यविरुद्धानां कथमेकत्र संगमः ॥१॥ युधि-
ष्ठिर उवाच--यदाधर्मश्च भार्या च परस्परवशानुगौ॥
तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि संगमः ॥ २ ॥
यक्ष उवाच--अक्षयो नरकः केन प्राप्यते भरतर्षभ ॥
एतन्मे पृच्छतः प्रश्नं तच्छीघ्रं वक्तुमर्हसि ॥३॥युधि-
ष्ठिर उवाच--ब्राह्मणं स्वयमाहूय याचमानमकिंच-
नम् ॥ पश्चान्नास्तीति यो ब्रूयात्सोक्षयं नरकं व्रजेत्
॥ ४ ॥ वेदेषु धर्मशास्त्रेषु मिथ्यापोतैर्द्विजातिषु ॥
देवेषु पितृधर्मेषु सोक्षयं नरकं व्रजेत् ॥ ५ ॥

अर्थ--यक्ष कहने लगा—धर्म अर्थ और काम ये आपसमें विरोधीहैं इन नित्यत्व विरोधियोंका एक जगह संगम कैसाहै ॥ ॥ १०१ ॥ युधिष्ठिर बोला--धर्म अग्निहोत्र आदि भार्याका विरोधी नहींहै जब भार्यादान आदि प्रतिबंधक विनाधर्ममें विरोधिनी नहीं हो तब धर्म अर्थोंको उपजाताहै और भार्या का-

मको पूरतीहै तिस करके इन तीनोंका संगम होताहै ॥ २ ॥ यक्ष कहने लगा- हे भरतर्षभ ! अक्षय नरक अर्थात् नित्यसंसारीपनाको कौन प्राप्त होताहै यह मेरा प्रश्नहै इसको शीघ्र कह ॥ ॥ ३ ॥ युधिष्ठिर बोला--आसुरी संपद कहतेहैं ब्राह्मणको आप बुला जब वह कुछ मांगे तब जो नटजाताहै वह अक्षय नरकमें जाताहै ॥ ४ ॥ वेद धर्मशास्त्र ब्राह्मण देवता पितर धर्म इन्होंको जो नहीं मानता वह अक्षय नरकमें जाताहै ॥ ५ ॥

विद्यमाने धने लोभाद्दानभोगविवर्जितः ॥
पश्चान्नास्तीति योब्रूयात्सोक्षयं नरकं व्रजेत् ॥ ६ ॥
यक्ष उवाच—राजन्कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा ॥
ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत्सुनिश्चितम् ॥ ७ ॥
युधिष्ठिर उवाच—शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो
न च श्रुतम् ॥ कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संश-
यः ॥ ८ ॥ वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः ॥
अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥ ९ ॥
पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिंतकाः ॥
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान्सपंडितः ॥ १० ॥

अर्थ—धन होनेमें दानभोगसे वर्जित होकर पीछे नास्ति ऐसे कहै वह अक्षय नरकमें जाताहै ॥ ६ ॥ यक्ष कहने लगा—हेराजन् ! कुलसे वृत्तसे स्वाध्याय अर्थात् वेदका अक्षरमात्र पढनेसे और श्रुत अर्थात् अर्थसहित वेद पढनेसे इन्हों मांहसे किस करके ब्राह्मणपना होताहै यह निश्चय कह ॥ ७ ॥ युधिष्ठिर बोला—

हे यक्ष! सुन कुल स्वाध्याय श्रुत ब्राह्मणपनामें कारण नहींहै वृत्त कारणहै संशय नहीं ॥ ८ ॥ ब्राह्मणसे विशेष कर वृत्त रक्षित करना नहीं क्षीणवृत्तवाला नहीं हतहै और वृत्तसे हत हुआ हत होताहै ॥ ९ ॥ पढनेवाला पढानेवाला अन्य शास्त्रके चिंतक सब व्यसनी और मूर्खहैं. जो क्रियावान्है वह पंडितहै ॥ ११० ॥

चतुर्वेदोपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते ॥ योग्नि-होत्रपरो दांतः स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ ११ ॥ यक्ष उवाच—प्रियवचनवादी किं लभते विमृशितकार्य-करः किं लभते ॥ बहुमित्रकरः किं लभते धर्मरतः किं लभते कथय ॥ १२ ॥ युधिष्ठिर उवाच—प्रिय-वचनवादी प्रियो भवति विमृशितकार्यकरोधिकं जयति ॥ बहुमित्रकरः सुखं वसते यश्च धर्मरतः स गतिं लभते ॥ १३ ॥ यक्ष उवाच--को मोदते कि-माश्चर्यं कः पंथाः का च वार्तिका ॥ वद मे चतुरः प्रश्नान् मृता जीवंतु बांधवाः ॥ १४ ॥ युधिष्ठिर उवाच--पंचमेहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वे गृहे ॥ अनृणी चाप्रवासी च सवारिचर मोदते ॥ १५ ॥

अर्थ--चारवेद पढा हुआभी दुष्ट वृत्तवाला ब्राह्मण शूद्रसेभी नीचहै. जो अग्निहोत्र करताहै और इंद्रियोंको दमन करताहै वह ब्राह्मण कहाहै ॥ ११ ॥ यक्ष कहने लगा--प्रियवचन बोलने-वाला क्या मिलताहै विचारकर कार्य करनेवालाने क्या मिलताहै बहुतमित्र करनेवालाने क्या मिलताहै धर्ममें रत हुआने

क्या मिलताहै कह ॥ १२ ॥ युधिष्ठिर बोला--प्रियवचन बोलनेवाला प्रिय होताहै विचारकर कार्य करनेवाला अधिक जयको प्राप्त होताहै बहुत मित्र करनेवाला सुखसे बसताहै जो धर्ममें रतहै वह गतिको प्राप्त होताहै ॥ १३ ॥ यक्ष कहने लगा- कौन आनंदमें है क्या आश्चर्यहै क्या मार्गहै कौन वार्ताहै चार प्रश्नोंको कह मेरे भाई जीवो ॥ १४ ॥ युधिष्ठिर बोला—हे वारिचर पांचमें दिन अथवा छठे दिन जो अपना घरमें शाक पकाताहै ऋण अर्थात् कर्जसे रहितहै वह आनंदमें है इस प्रकार प्रवास अर्थात् जाने आनेसे रहितहै वह आनंदमें है इस लिये ऋण और प्रवासको नहीं करता हुआ यदृच्छालाभसे संतुष्ट रहै ॥ १५ ॥

अहन्यहनि भूतानि गच्छंतीह यमालयम् ॥ शेषाः स्थावरमिच्छंति किमाश्चर्य्यमतः परम् ॥ १६ ॥ तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्॥धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः सपंथाः॥ १७ ॥ अस्मिन्महामोहमये कटाहे सूर्याग्निना रात्रिदिवेंधनेन ॥ मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन भूतानि कालः पचतीति वार्त्ता॥ १८॥ यक्ष उवाच-- व्याख्याता मे त्वया प्रश्ना याथातथ्यं परंतप ॥ पुरुषं त्विदानीं व्याख्याहि यश्च सर्वधनी नरः॥ १९॥ युधिष्ठिर उवाच--दिवं स्पृशति भूमिंच शब्दं पुण्येन कर्मणा ॥ यावत्स शब्दो भवति तावत्पुरुष उच्यते ॥ २० ॥

अर्थ—रोज रोज प्राणी यमके स्थानको जातेहैं शेषरहे ठहरना की इच्छा करतेहैं इस्से परे आश्चर्य्य क्याहै शरीरके विनाशको जान प्राप्त हुये भोगोंकोभी त्याग शीघ्र परमार्थके लिये जतन करना ॥ १६ ॥ तर्क निर्णयशून्य है श्रुतिभी आपसमें विरुद्ध अर्थको कहती हैं श्रुतियोंके व्याख्या करनेवाले मुनिभी आपसमे विरुद्ध अर्थको कहतेहैं धर्मका तत्व गुफामें स्थित है जिसकरके महाजन गये वही मार्गहै इसलिये अनंत धर्मशास्त्र आदि विद्याओमें परिश्रम नहीं कर बहुतजनसंमत मार्गको प्राप्त होना ॥ १७ ॥ यह संसार महामोहमय कटाहहै सूर्यरूप अग्नि दिनरात्रि इंधन महीना ऋतु करछी इन्होंसे काल प्राणियोंको पकाता है यह बातहै इसलिये भोगते हुये भी स्त्री आदि चिरस्थायी नहीं हैं इस वास्ते सब तर्फसे वैराग्यके आश्रय होना ॥ १८ ॥ यक्ष कहने लगा- हे परंतप! तैंने प्रश्न यथार्थ कहे और जो सर्व धनी मनुष्य है उसको अब कह ॥ १९ ॥ युधिष्ठिर बोला--पवित्र कर्मसे शब्द आकाश और पृथ्वीको स्पर्शताहै जबतक वह शब्द रहताहै वह पुरुष कहाताहै सकाम अथवा निष्काम पवित्र कर्मसे पृथ्वीमें कीर्त्ति शब्द रहै अर्थात् जबतक कीर्तिहो तबतक जीवताहै पीछे इस लोकमें पूर्व वासनाके अनुरूप कर्मोंको करताहै तहांभी सोपानक्रमसे निष्काम छूटताहै और सकाम वासनाकी फांसीसे अधिक बंधताहै२०॥

तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुखदुःखे तथैव च ॥ अतीतानागते चोभे स वै धर्मधनी नरः ॥ २१ ॥ यक्ष

उवाच-व्याख्यातः पुरुषो राजन्यश्च धर्मधनी नरः॥
तस्मात्त्वमेकं भ्रातॄणां यमिच्छसि स जीवतु ॥२२॥
युधिष्ठिर उवाच-श्यामो य एष रक्ताक्षो बृहच्छाल
इवोत्थितः ॥ व्यूढोरस्को महाबाहुर्नकुलो यक्ष
जीवतु ॥ २३ ॥ यक्ष उवाच-प्रियस्ते भीमसेनोय-
मर्जुनोवः परायणम् ॥ स कस्मान्नकुलो राजन् सा-
पत्नं जीवमिच्छसि ॥२४॥ यस्य नागसहस्रेण दश
संख्येन वै बलम् ॥ तुल्यं तं भीममुत्सृज्य नकुलं
जीवमिच्छसि ॥ २५ ॥

अर्थ-जिसके प्रियअप्रिय तुल्य हों सुखदुःख तुल्य हों अतीत और अनागत तुल्य हों वह सर्वधनी मनुष्य है ॥ २१ ॥ यक्ष कहने लगा- हे राजन् ! ब्रह्मवित् सर्वधनी तैंने कहा तिस लिये भाइयोंमें जिसको चाहे उस एकको जिवाले ॥ २२ ॥ युधिष्ठिर बोला-श्याम, लालनेत्रोंवाला उत्थित हुआ बडा शाल-वृक्षकी तरह करडी छातीवाला और महाबाहु ऐसा हे यक्ष ! नकुल जीवो ॥ २३ ॥ यक्ष कहने लगा-तेरेको भीमसेन प्रिय है तुह्मारे अर्जुन परायण है हे राजन् ! किसवास्ते सापत्नरूप नकुलको जाना चाहता है॥ २४ ॥ दशहजार हस्तियोंका बलवाला भीमको छोड नकुलको जिवानेकी इच्छा करता है ॥ २५ ॥

तथैनं मनुजाः प्राहुर्भीमसेनं प्रियं तव ॥
अथ केनानुभावेन सापत्नं जीवमिच्छसि ॥ २६ ॥
यस्य बाहुबलं सर्वे पांडवाः समुपासते ॥

अर्जुनं तमपाहाय नकुलं जीवमिच्छसि ॥ २७ ॥
युधिष्ठिर उवाच--धर्म एव हतो हंति धर्मो रक्षति रक्षितः॥
तस्माद्धर्मं न त्यजामि मानो धर्मो हतोवधीत् ॥ २८ ॥
आनृशंस्यं परो धर्मः परमार्थाच्च मे मतम् ॥
आनृशंस्यं चिकीर्षामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥ २९ ॥
धर्मशीलः सदा राजा इति मां मानवा विदुः ॥
स्वधर्मान्न चलिष्यामि न कुलो यक्ष जीवतु ॥ ३० ॥

अर्थ--तैसे मनुष्य तेरे भीमसेनको प्रिय कहतेहैं किस अनुभवसे सापत्नको जीवाना चाहताहै ॥ २६ ॥ जिसके बाहुबलको सब पांडव सेवतेहैं उस अर्जुनको छोड नकुलको जीवानां चाहताहै ॥ २७ ॥ युधिष्ठिर बोला--हत हुआ धर्म नाशताहै रक्षित किया धर्म रक्षा करताहै तिसलिये धर्मको नहीं त्यागता हत किया धर्म हमको मत मारो ॥ २८ ॥ आनृशंस्य अर्थात् नहीं विषमपना परम धर्महै सत्यसेभी उत्तम मानाहै आनृशंस्य करना चाहताहूं हे यक्ष नकुल जीवो ॥ २९ ॥ राजा धर्मशीलहै ऐसे मुझें मनुष्य जानतेहैं अपना धर्मसे नहीं चलता हे यक्ष नकुल जीवो ॥ ३० ॥

कुंतीचैव तु माद्री च द्वे भार्ये तु पितुर्मम ॥
उभे सपुत्रे स्यातां वै इति मे धीयते मतिः ॥ ३१ ॥
यथा कुंती तथा माद्री विशेषो नास्ति मे तयोः ॥
मातृभ्यां सममिच्छामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥ ३२ ॥
यक्ष उवाच--यस्य तेर्थाच्च कामाच्च आनृशंस्यं परं

मतम् ॥ तस्मात्ते भ्रातरः सर्वे जीवंतु भरतर्षभ ॥ ३३ ॥

इति युधिष्ठिरगीतायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इत्येकादशं प्रकरणम् ॥ ११ ॥

अर्थ--मेरा पिताकी कुंती और माद्री दो २ भार्या हुईं वे दोनों पुत्रोंवाली रहैं ऐसी मेरी बुद्धिहै ॥ ३१ ॥ जैसी कुंतीहै तैसी माद्रीहै उन दोनोंमें मुझे विशेष नहीहै माताओंमें सम चाहताहूं हे यक्ष नकुल जीवो ॥ ३२ ॥ यक्ष कहने लगा--तेरे अर्थसे और कामसे आनृशंस्य परम मानाहै तिस कारणसे तेरे सब भाई हे भरतर्षभ ! जीवो ॥ ३३ ॥

यहां युधिष्ठिरगीतामें तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

यहां ग्यारहवां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

वैशंपायन उवाच--ततस्ते यक्षवचनादुदातिष्ठंत पांडवाः ॥ क्षुत्पिपासे च सर्वेषां क्षणेन व्यपगच्छताम् ॥ १ ॥ युधिष्ठिर उवाच--सरस्येकेन पादेन तिष्ठंतमपराजितम् ॥ पृच्छामि को भवान्देवो न मे यक्षो मतो भवान् ॥२॥ वसूनां वा भवानेको रुद्राणामथवा भवान् ॥ अथवा मरुतां श्रेष्ठो वज्री वा त्रिदशेश्वरः ॥ ३ ॥ मम हि भ्रातर इमे सहस्रशतयोधिनः ॥ तं योधं न प्रपश्यामि येन सर्वे निपातिताः ॥ ४ ॥ सुखं प्रतिप्रबुद्धानामिन्द्रियाण्युपलक्षये ॥ स भवान्सुहृदोस्माकमथवा नः पिता भवान् ॥ ५ ॥

अर्थ—वैशंपायन कहते हैं--तदनंतर ये पांडव यक्षके वचनसे खड़ेहुये सबोंकी भूख प्यास क्षणभरमें शांत हुई ॥ १ ॥ युधिष्ठिर कहने लगा--तलावमें एक पैरसे स्थित हुआ अपराजित यक्षको आप कौन देव हो मैं पूछता हूं आप यक्ष नहीं है॥ २॥ वसुओंमें एक वसु हो अथवा रुद्रोंमें एक रुद्र हो अथवा मरुतोंमें एक मरुत् हो अथवा इंद्र हो ॥ ३ ॥ लक्षयोद्धाओंसे युद्ध करनेवाले मेरे भाई जिसने गिरादिये उस योद्धाको मैं नहीं देखता ॥ ४ ॥ जागे हुयोंकी इन्होंकी इंद्रियें सुखरूप दीखती हैं आप हमारे मित्र हो अथवा हमारे पिता हो ॥ ५ ॥

यक्ष उवाच--अहं ते जनकस्तात धर्मो मृदुपराक्रम ॥
त्वां दिदृक्षुरनुप्राप्तो विद्धि मां भरतर्षभ ॥ ६ ॥
यशः सत्यं दमः शौचमार्जवं ह्रीरचापलम् ॥
दानं तपो ब्रह्मचर्यमित्येतास्तनवो मम ॥ ७ ॥
अहिंसा समता शान्तिस्तपः शौचममत्सरः ॥
द्वाराण्येतानि मे विद्धि प्रियो ह्यसि सदा मम ॥ ८ ॥
दिष्ट्या पंचसु रक्तोसि दिष्ट्या ते षट्पदी जिता ॥
द्वे पूर्वे मध्यमे द्वे च द्वे चान्ते सांपरायिके ॥ ९ ॥
धर्मोहमिति भद्रं ते जिज्ञासुस्त्वामिहागतः ॥
आनृशंस्येन तुष्टोस्मि वरं दास्यामि तेऽनघ ॥ १० ॥

अर्थ—हेतात! हे मृदुपराक्रम मैं तेरा पिता धर्मराज हूं तुझे देखनेकी इच्छावाला प्राप्त हुआ. हे भरतर्षभ! मुझे जान ॥ ६ ॥ यश सत्य दम शौच आर्जव ह्री अचापल दान तप ब्रह्मचर्य ये

मेरे शरीर हैं ॥ ७ ॥ अहिंसा समता शांति तप शौच अमत्सर अर्थात् दूसराका ताप सहना ये मेरे द्वार हैं सदा मेरा तू प्रिय है ॥ ८ ॥ शांत दांत उपरत तितिक्षु समाहित ऐसा होकर आत्मामें आत्माको देखता है शम आदिमें पूर्वपुण्यके वशसे तू रक्त है यह भद्र है काम क्रोध लोभ मोह मद मान ये छह पद तैंने जीते हैं अथवा अशना पिपासा शोक मोह बुढापा मृत्यु ये छह पद तैंने जीते हैं यह भद्र है ॥ ९ ॥ तेरा कल्याण हो मैं धर्म हूं तेरेको जाननेके लिये आया हूं आनृशंस्य धर्मसे प्रसन्न हुआ हुं अब तुझें वर दूंगा ॥ १० ॥

वरं वृणीष्व राजेंद्र दाता ह्यस्मि तवानघ ॥
ये हि मे पुरुषा भक्ता न तेषामस्ति दुर्गतिः ॥ ११ ॥
युधिष्ठिर उवाच-- अरणीसहितं यस्य मृगो ह्यादाय गच्छति॥तस्याग्नयो न लुप्येरन् प्रथमोस्तु वरो मम १२
यक्ष उवाच--अरणीसहितं ह्यस्य ब्राह्मणस्य हृतं मया।
मृगवेषेण कौंतेय जिज्ञासार्थं तव प्रभो ॥ १३ ॥
वैशंपायन उवाच--ददानीत्येव भगवानुत्तरं प्रत्यपद्यत ॥ अन्यं वरय भद्रं ते वरं त्वममरोपम ॥ १४ ॥
युधिष्ठिर उवाच--वर्षाणि द्वादशारण्ये त्रयोदशमुपस्थितम् ॥ तत्र नो नाभिजानीयुर्वसतो मनुजाः क्वचित् ॥ १५ ॥

अर्थ--हे राजेंद्र वर मांग हे अनघ मैं दूंगा जो पुरुष मेरे भक्तहैं उन्होंकी दुर्गति नहीं होती ॥ ११ ॥ युधिष्ठिर कहने लगा-जिस

मुनिका अरणीकाष्ठको मृग लेकर चलागया उसके अग्नि नष्ट न हों प्रथम यह वर मुझे दो ॥ १२ ॥ यक्ष बोला--ब्राह्मणका अरणी मृगके वेषसे हे प्रभो! तेरेको जाननेकी इच्छासे हे कौंतेय! मैंने हरा ॥ १३ ॥ वैशंपायन कहतेहैं-देताहूं ऐसा भगवान् उत्तर देतेभये. हे अमरोपम! तेरा कल्याण हो अन्य वर मांग ॥ १४ ॥ युधिष्ठिर कहने लगा--बारह वर्ष वनमें रहे तेरहवां वर्ष उपस्थित होनेवालाहै तहां वसतेहुओंको कोईभी नहीं जानै ॥ १५ ॥

वैशंपायन उवाच--ददानीत्येव भगवानुत्तरं प्रत्यपद्यत ॥
भूयश्चाश्वासयामास कौंतेयं सत्यविक्रमम् ॥ १६ ॥
यद्यपि स्वेन रूपेण चरिष्यथ महीमिमाम् ॥
न वो विज्ञास्यते कश्चित्त्रिषुलोकेषु भारत ॥ १७ ॥
वर्षं त्रयोदशमिदं मत्प्रसादात्कुरूद्वहाः ॥
विराटनगरे गूढा अविज्ञाताश्चरिष्यथ ॥ १८ ॥
यद्वः संकल्पितं रूपं मनसा यस्य यादृशम् ॥
तादृशं तादृशं सर्वे छंदतो धारयिष्यथ ॥ १९ ॥
अरणीसहितं चेदं ब्राह्मणाय प्रयच्छतं ॥
जिज्ञासार्थं मया ह्येतदाहृतं मृगरूपिणा ॥ २० ॥

अर्थ--वैशंपायन कहतेहैं-देताहूं यह उत्तर भगवान् देतेभये सत्यविक्रमवाले युधिष्ठिरको फिर आश्वासित करतेभये ॥ ॥ १६॥ जो अपना रूपसेभी इस पृथिवीमें विचरोगे तोभी तीन लोकोंमें हे भारत! तुम्हें कोईभी नहीं जानेगा ॥ १७ ॥ इस तेरहां वर्षमें मेरे प्रसादसे हे कुरूद्वह! विराटनगरमें गूढ हुये और

नहीं जानेहुये रहोगे ॥ १८ ॥ मनसे जिसको जैसा रूप वांछित हो वैसा वैसा रूप अपनी इच्छासे धारना ॥ १९ ॥ अरणीकाष्ठ यह ब्राह्मणको देना मृगका रूपवाला मैंने जाननेके लिये हराथा ॥ २० ॥

प्रवृणीष्वापरं सौम्य वरमिष्टं ददामि ते ॥
न तृप्यामि नरश्रेष्ठ प्रयच्छन्वै वरांस्तथा ॥ २१ ॥
तृतीयं गृह्यतां पुत्र वरमप्रतिमं महत् ॥
त्वं हि मत्प्रभवो राजन् विदुरश्च ममांशजः ॥ २२ ॥
युधिष्ठिर उवाच—देवदेवो मया दृष्टो भवान्साक्षात्सना-
तनः॥यंयं ददासि वा तुष्टस्तं ग्रहीष्याम्यहं पितः ॥
॥ २३ ॥ अजेयौ लोभमोहौ च क्रोधं चाहं सदा विभो ॥
दाने तपसि सत्येच मनो मे सततं भवेत् ॥ २४ ॥
धर्म उवाच—उपपन्नो गुणैरेतैः स्वभावेनासि पांडव ॥
भवान् धर्मः पुनश्चैव यथोक्तं ते भविष्यति ॥ २५ ॥

अर्थ—हे सौम्य अन्य वांछित वर मांग तुझे दूंगा हे नरश्रेष्ठ वरोंको देता हुआ मैं तृप्त नहीं होता ॥ २१ ॥ हे पुत्र बहुत उत्तम तीसरा वर मांग हे राजन्! तू मेरेसे उपजाहै और विदुर मेरे अंशसे उपजाहै ॥ २२ ॥ युधिष्ठिर कहने लगा—साक्षात् देवदेव सनातन आप मैंने देखे प्रसन्नहो जिस वरको दोगे हे पिता! वही मैं लूंगा ॥ २३ ॥ लोभ मोह और क्रोध इन्होंको सदा जीतू हेविभो! दान तप और सत्यमें मेरा मन निरंतर

रहे ॥ २४ ॥ धर्म बोला—हे पांडव स्वभावसेही इन गुणोंकरकै तू संपन्नहै तू धर्म है तेरा कहा होगा ॥ २५ ॥

वैशंपायन उवाच—इत्युक्त्वांतर्दधे धर्मो भगवाँल्लोकभावनः ॥ समेताः पांडवाश्चैव सुखसुप्ता मनस्विनः ॥ २६ ॥ उपेत्य चाश्रमं वीराः सर्व एव गतक्लमाः ॥ आवृणेयं ददौ तस्मै ब्राह्मणाय तपस्विने ॥ २७ ॥ इदं समुत्थानसमागतं महत्पितुश्च पुत्रस्य च कीर्तिवर्धनम् ॥ पाठान्नरः स्याद्विजितेंद्रियो वशी सपुत्रपौत्रः शतवर्षभाग्भवेत् ॥ २८ ॥ नचाप्यधर्मे न सुहृद्भिभेदने परस्वहारे परदारमर्शने॥ कदर्यभावे न रमेन्मनः सदा नृणां सदाख्यानमिदं विजानताम् २९ ॥

इति युधिष्ठिरगीतायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इति द्वादशं प्रकरणम् ॥ १२ ॥

अर्थ—वैशंपायन कहतेहैं—ऐसे कहकर लोकभावन भगवान् धर्म अंतर्धान हुये सुखपूर्वक सोके उठे सुंदर मनवाले पांडव इकठे हो ॥ २६ ॥ ग्लानिसे रहित हुये वीर आश्रमको प्राप्त हो अरणीकाष्ठ तपस्वी ब्राह्मणको देते भये ॥ २७ ॥ पिता पुत्रका बडा समागत यह आख्यान कीर्तिको बढाताहै इसको पढताहुआ मनुष्य जितेंद्रिय वशी पुत्रपौत्रवाला होकर १०० वर्ष पर्य्यंत जीवताहै ॥ २८ ॥ इस आख्यानको सदा जाननेवालोंका मन अधर्म मित्रद्रोह परद्रव्य हरना पराई

स्त्रीसंग और कदर्य्यभाव इन्होंमें नहीं लगता ॥ २९

यहां युधिष्ठिरगीतामें चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

इति श्रीरोहितकप्रदेशान्तर्गतवेरीग्रामनिवासिगौडवंशाव-
तंसविविधशास्त्रपरमपंडित श्रीशिवसहायपुत्ररविदत्त-
शास्त्रिविरचितपंचदशगीताभावदीपकभाषाटीका-
यां युधिष्ठिरगीता समाप्ता ॥ ६ ॥

यहां बारहवां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

अथ बकगीता ॥

वैशंपायन उवाच—मार्कण्डेयमृषयो ब्राह्मणा युधि-
ष्ठिरश्च पर्यपृच्छन्नृषिः केन दीर्घायुरासीद्बको मार्क-
ण्डेयस्तु तान्सर्वानुवाच ॥ १ ॥ महातपा दीर्घा-
युश्च बको राजर्षिर्नात्रकार्या विचारणा ॥ २ ॥
एतच्छ्रुत्वा तु कौंतेयो भ्रातृभिः सह भारत ॥
मार्कण्डेयं पर्यपृच्छद्धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ३ ॥
बकदाल्भ्यौ महात्मानौ श्रूयेते चिरजीविनौ ॥
सखायौ देवराजस्य तावृषी लोकसंमितौ ॥ ४ ॥
एतदिच्छामि भगवन् बकशक्रसमागमम् ॥
सुखदुःखसमायुक्तं तत्वेन कथयस्व मे ॥ ५ ॥

अब बकगीता कहतेहैं ॥

अर्थ--ब्रह्मविद्यासे लब्ध हुआ चिरंजीवित्वभी दुःखसे मिश्रितहै इस लिये विदेहकैवल्यही श्रेष्ठहै इस लिये बकगीता कहतेहैं

वैशंपायन कहतेहैं-मार्कण्डेयजीको ऋषि ब्राह्मण और युधिष्ठिर पूछते भये बकमुनि किस कारणसे दीर्घायु हुआ उन सबोंको मार्कण्डेय बोले ॥ १ ॥ बहुत तप करनेवाला बकराजर्षि दीर्घायुहै यह विचार नहीं करना ॥ २ ॥ ऐसे सुन भाइयोंसहित कुंतीका पुत्र धर्मराज राजा युधिष्ठिर मार्कण्डेयजीसे पूछता भया ॥ ३ ॥ बक और दाल्भ्य ये दोनों महात्मा चिरजीवि सुनेहैं इंद्रके मित्रहैं दोनों ऋषि लोकमें पूजितहैं ॥ ४ ॥ हे भगवन्! बक इंद्रका समागम सुननेकी इच्छा करताहूं सुख दुःखसे युत समागमको तत्वसे मेरे प्रति कह ॥ ५ ॥

मार्कण्डेय उवाच—वृत्ते देवासुरे राजन्संग्रामे लोमहर्षणे ॥ त्रयाणामपि लोकानामिंद्रो लोकाधिपो भवत् ॥ ६ ॥ सम्यग्वर्षति पर्जन्ये सुखसंपद उत्तमाः ॥ निरामयास्तु धर्मिष्ठाः प्रजा धर्मपरायणाः ॥ ॥ ७ ॥ मुदितश्च जनः सर्वः स्वधर्मे सुव्यवस्थितः ॥ ताः प्रजा मुदिताः सर्वा दृष्ट्वाबलनिषूदनः ॥ ८ ॥ ततस्तु मुदितो राजन् देवराजः शतक्रतुः ॥ ऐरावतं समास्थाय ताः पश्यन्मुदिताः प्रजाः ॥ ९ ॥ आश्रमांश्च विचित्रांश्च नदीश्च विविधाः शुभाः ॥ नगराणि समृद्धानि खेटाञ्जनपदांस्तथा ॥ १० ॥

अर्थ—मार्कण्डेय कहतेहैं—हे राजन्! देवदैत्योंके लोमहर्षण युद्ध हुआ पीछे तीन लोकोंका स्वामी इंद्र हुआ ॥ ६ ॥ सम्यक् प्रकार इंद्र वर्षनेमें खेतीकी संपद उत्तम हुई रोगरहित

अत्यंत धर्मवाली और धर्मपरायण ऐसे प्रजा होतीभई ॥ ७ ॥ आनंदित हुये सब जन अपने धर्ममें स्थित थे आनंदित हुई संपूर्ण प्रजाको देखकर इंद्र ॥ ८ ॥ हे राजन् देवराज इंद्र ऐरावत हस्तीपै बैठ आनंदित हुई उस प्रजाको देखताहुआ ॥ ९ ॥ विचित्र आश्रम अनेक प्रकारकी शुभ नदी समृद्ध नगर अल्प प्रकाशितै गाम और देश इन्होंको देखता हुआ ॥ १० ॥

प्रजापालनदक्षांश्च नरेंद्रान्धर्मचारिणः ॥
उदपानप्रपावापीतडागानि सरांसिच ॥ ११ ॥
नानाब्रह्मसमाचारैः सेवितानि द्विजोत्तमैः ॥
ततोवतीर्य रम्यायां पृथ्व्यां राजञ्छतक्रतुः ॥ १२ ॥
तत्र रम्ये शिवे देशे बहुवृक्षसमाकुले ॥
पूर्वस्यां दिशि रम्यायां समुद्राभ्याशतो नृप॥ १३ ॥
तत्राश्रमपदं रम्यं मृगद्विजनिषेवितम् ॥
तत्राश्रमपदे रम्ये बकं पश्यति देवराट् ॥ १४ ॥
बकस्तु दृष्ट्वा देवेंद्रं दृढं प्रीतमनाभवत् ॥
पाद्यासनार्घदानेन फलमूलैरथार्चयत् ॥ १५ ॥

अर्थ–प्रजाके पालनेमें चतुररूप राजाओंको और धर्मचारी राजाओंको और जलाशय प्रपा बावडी तालाव सरोवर ॥ ११ ॥ ये सब अनेक प्रकारके ब्रह्म समाचारवाले ब्राह्मणोंसे सेवित हुयोंको देख पीछे हेराजन् रमणीक पृथिवीमें उतरकर इंद्र ॥ १२ ॥ तहां रमणीक पवित्र बहुत वृक्षोंसे आकुल ऐसे देशमें रमणीक पूर्व दिशामें हेनृप समुद्रके समीप ॥ १३ ॥

मृग पक्षियोंसे सेवित रमणीक आश्रम था तहां देवराज इंद्र बकको देखता भया ॥ १४ ॥ बकमुनिभी देवेंद्रको देख बहुत प्रीत-मनवाला हुआ पीछे पाद्य आसन अर्घदान फल और मूलसे पूजताभया ॥ १५ ॥

सुखोपविष्टो वरदस्ततस्तु बलसूदनः ॥
ततः प्रश्नं बकं देव उवाच-त्रिदशेश्वरः ॥ १६ ॥
शतं वर्षसहस्राणि मुने जातस्य तेनघ ॥
समाख्याहि मम ब्रह्मन् किं दुःखं चिरजीविनाम् ॥१७॥
बक उवाच--अप्रियैः सह संवासः प्रियैश्चापि विनाभवः॥
असद्भिः संप्रयोगश्च तद्दुःखं चिरजीविनाम् ॥ १८ ॥
पुत्रदारविनाशोत्र ज्ञातीनां सुहृदामपि ॥
परेष्वापतते कृच्छ्रं किंनु दुःखतरं ततः ॥ १९ ॥
नान्यद्दुःखतरं किंचिल्लोकेषु प्रतिभाति मे ॥
अर्थैर्विहीनः पुरुषः परैः संपरिभूयते ॥ २० ॥

अर्थ--पीछे वरको देनेवाला इंद्र सुखपूर्वक बैठ पीछे देवतोंका ईश्वर इंद्र बकमुनिसे प्रश्न बोला ॥१६॥ हे अनघ ! हे मुने! तुझे जन्म लिये लाखों वर्ष हुये. हे ब्रह्मन् ! मेरेप्रति कह चिरजीवियोंको क्या दुःखहै ॥ १७ ॥ बक बोला--अप्रियोंके संग वसना प्रियोंके संग नहीं वसना और दुष्टोंके संग युक्त रहना चिरजीवियोंको वह दुःख है ॥ १८ ॥ पुत्र स्त्री ज्ञाति और मित्रोंका नाश शत्रुओंमें कष्टसे रहना इस्से परे अत्यंत दुःख क्या है ॥१९॥ संसारमें जो धनसे रहित पुरुष धनवालोंसे

तिरस्कृत होताहै इस्से परे अन्य अत्यंत दुःख मुझे प्रतीत नहीं होता ॥ २० ॥

अकुलानां कुले भावं कुलीनानां कुलक्षयम् ॥
संयोगं विप्रयोगं च पश्यंति चिरजीविनः ॥ २१ ॥
अपि प्रत्यक्षमेवैतद्देवदेव शतक्रतो ॥
अकुलानां समृद्धानां कथं कुलविपर्ययः ॥ २२ ॥
देवदानवगंधर्वमनुष्योरगराक्षसाः ॥
प्राप्नुवंति विपर्यासं किंनु दुःखतरं ततः ॥ २३ ॥
कुले जाताश्च क्लिश्यन्ते दौष्कुलेयवशानुगाः ॥
आढ्यैर्दरिद्रावमताः किंनु दुःखतरं ततः ॥ २४ ॥
लोके वैधर्म्यमेतत्तु दृश्यते बहुविस्तरम् ॥
हीनज्ञानाश्च दृश्यन्ते क्लिश्यन्ते प्राज्ञकोविदाः ॥ २५ ॥

अर्थ--दुष्ट कुलवालोंके कुलका प्रभाव और कुलीनोंके कुलका नाश संयोग और विप्रयोग इन्होंको चिरजीवी देखते हैं॥ २१॥ हे देवदेव ! हे शतक्रतो ! यह प्रत्यक्षही है अकुल समृद्धोंका कैसे कुलका नाश हुआ ॥ २२ ॥ देव दानव गंधर्व मनुष्य सर्प राक्षस येभी विपरीतपनाको प्राप्त होते हैं तिस्से परे दुःख क्या है ॥ २३ ॥ कुलमें उत्पन्न हुये दुष्ट कुलवालोंके वशमें प्राप्त होकर क्लेशको प्राप्त होते धनवाले दरिद्रोंका अपमान करते हैं तिस्से अत्यन्त दुःख क्या है ॥ २४ ॥ संसारमें बहुत विस्तारवाला यह वैधर्म्य दीखता है हीनज्ञानवाले आनंदित दीखते हैं और अत्यंत पंडित क्लेशको प्राप्त होतेहैं ॥ २५ ॥

बहुदुःखपरिक्लेशं मानुष्यमिह दृश्यते ॥
इन्द्र उवाच–पुनरेव महाभाग देवर्षिगणसेवित ॥२६॥
समाख्याहि मम ब्रह्मन् किं सुखं चिरजीविनाम् ॥
बक उवाच–अष्टमे द्वादशे वापि शाकं यः पचते गृहे२७
कुमित्राण्यनपाश्रित्य किं वै सुखतरं ततः ॥
यत्राहानि न गण्यन्ते नैनमाहुर्महाशनम् ॥ २८ ॥
अपि शाकंपचानस्य सुखं वै मघवन् गृहे ॥
अर्जितं स्वेन वीर्येण नाप्यपाश्रित्य कञ्चन ॥ २९ ॥
फलशाकमपि श्रेयो भोक्तुं ह्यकृपणे गृहे ॥
परस्य तु गृहे भोक्तुः परिभूतस्य नित्यशः ॥ ३० ॥

अर्थ–बहुत दुःख और क्लेशवाला मनुष्यपना यहां दीखताहै इंद्र कहने लगा–हे महाभाग! हे देवर्षिगणसेवित! फिरही॥ २६॥ हे ब्रह्मन्! कह चिरजीवनेवालोंको क्या सुख है–बक बोला–आठमें अथवा बारहमें दिन जो आपना घरमें शाक पकाता है २७ कुमित्रोंको नहीं प्राप्त होकर उस्से उत्तम सुख नहीं है जहां दिन नही गिने जाते वह महाशन नहीं कहाता॥ २८ ॥ हे मघवन्! आपना पराक्रमसे अर्जित किया शाक किसीके भी आश्रित नहो-कर घरमें पकानेवालेको सुख है ॥ २९ ॥ कृपणरहित घरमें फलशाकभी भोजन करना बहुत उत्तम है दूसराके घरमें नित्यप्रति तिरस्कृत हुआको ॥ ३० ॥

सुमृष्टमपि न श्रेयो विकल्पोयमतः सताम् ॥
श्ववत्कीलालपो यस्तु परान्नं भोक्तुमिच्छति ॥ ३१ ॥

धिगस्तु तस्यतद्भुक्तं कृपणस्य दुरात्मनः ॥
यो दत्त्वातिथिभूतेभ्यः पितृभ्यश्च द्विजोत्तमः ॥ ३२ ॥
शिष्टान्यन्नानि यो भुंक्ते किंवै सुखतरं ततः ॥
अतो मृष्टतरं नान्यत्पूतं किंचिच्छतक्रतो ॥ ३३ ॥
दत्वा यस्त्वतिथिभ्योवै भुंक्ते तेनैव नित्यशः ॥
यावतोह्यंधसः पिंडानश्नाति सततं द्विजः ॥ ३४ ॥
तावतां गोसहस्राणां फलं प्राप्नोति दायकः ॥
यदेनो यौवनकृतं तत्सर्वं नश्यते ध्रुवम् ॥ ३५ ॥

अर्थ–सुदर मीठा भोजन भी बहुत उत्तम नहीं इस लिये सत्पुरुषोंको यह विकल्प है कुत्ताकी तरह स्वाद लेता हुआ जो दूसराके अन्नके भोजनकी इच्छा करताहै ॥ ३१ ॥ उस कृपण दुरात्माका वह भोजनको धिक्कारहै जो अतिथि भूत पितर इन्होंको देकर ॥ ३२ ॥ शेष रहे अन्नको खाता है उस्से अत्यंत सुख क्याहै. हे शतक्रतो । उस्से पवित्र और अत्यंत मिष्ट अन्य नहींहै ॥ ३३ ॥ जो नित्य अतिथियोंको देकर उसी अन्नसे भोजन करताहै वह द्विज जितने अन्नके ग्रासोंको खाताहै निरंतर ॥ ३४ ॥ उतनेही हजार गौवोंके दानके फलको प्राप्त होताहै जो जवानीमें किया पापहै वह सब निश्चय नष्ट होताहै ॥ ३५ ॥

सदक्षिणस्य भुक्तस्य द्विजस्य तु करे गतम् ॥
यद्वारि वारिणा सिंचेत्तद्व्येनस्तरते क्षणात् ॥ ३६ ॥
एताश्चान्याश्चवै बह्वीः कथयित्वा कथाः शुभाः ॥

बकेन सह देवेन्द्र आपृच्छ्य त्रिदिवं गतः ॥ ३७ ॥
इति बकगीता समाप्ता ॥ ७ ॥
इति त्रयोदशं प्रकरणम् ॥ १३ ॥

अर्थ–दक्षिणासहित भोजन किये हुए ब्राह्मणके हाथमें प्राप्त हुआ जो पानीहै उस पानीके छींटे लगनेसे वह पाप क्षणभरमें नष्ट होजाताहै ॥ ३६ ॥ ये और अन्य बहुतसी शुभ कथा कहकर बकमुनिके साथ पीछे बकमुनिकी आज्ञाले इंद्र स्वर्गको गया ॥ ३७ ॥

इति श्रीरोहितकप्रदेशान्तर्गतबेरीग्रामनिवासिगौडवंशावतंसविविधशास्त्रपरमपण्डितश्रीशिवसहायपुत्ररविदत्तशास्त्रिविरचितपंचदशगीताभावदीपकभाषाटीकायां बकगीता समाप्ता ॥ ७ ॥
यहां तेरहवां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

अथ धर्मव्याधगीता ॥

व्याध उवाच–विज्ञानार्थं मनुष्याणां मनः पूर्वं प्रवर्तते ॥
तत्प्राप्य कामं भजते क्रोधं च द्विजसत्तम ॥ १ ॥
ततस्तदर्थं यतते कर्म चारभते महत् ॥
इष्टानां रूपगन्धानामभ्यासं च निषेवते ॥ २ ॥
ततो रागः प्रभवति द्वेषश्च तदनन्तरम् ॥
ततो लोभः प्रभवति मोहश्च तदनन्तरम् ॥ ३ ॥
ततो लोभाभिभूतस्य रागद्वेषहतस्य च ॥

न धर्मे जायते बुद्धिर्व्याजाद्धर्मं करोति च ॥ ४ ॥

अब धर्मव्याध गीता कहतेहैं ॥

अर्थ—सूक्ष्म शरीरसेभी आत्माको पृथक् करनेके लिये इंद्रियोंके नहीं जीतनेमें दोष कहतेहैं—व्याध बोला—महांधकारमें विद्यमान घटआदिको जाननेके लिये घटके छिद्रसे बाहिर निकसी दीपककी प्रभाकी तरह ब्रह्ममें विद्यमान रूपआदि जाननेके लिये इंद्रियछिद्रके द्वारा बाहिर प्राप्त हुआ तैजस मन प्रथम प्रवृत्त होताहै वह रूपआदि विज्ञानको प्राप्तहो ज्ञात अर्थमें काम, राग, क्रोध, द्वेष इन्होंको भजताहै हे द्विजसत्तम ॥ १ ॥ पीछे उसके लिये जतन करताहै महत् कर्मका आरंभ करताहै वांछितरूप गंधका अभ्यास करताहै ॥ २ ॥ पीछे राग होताहै पीछे दोष होताहै पीछे लोभ होताहै पीछे मोह होताहै ॥ ३ ॥ पीछे लोभसे तिरस्कृत और रागद्वेषसे हत हुआकै धर्ममें बुद्धि नहीं उपजती दंभसे धर्मको करताहै ॥ ४ ॥

व्याजेन चरते धर्ममर्थं व्याजेन रोचते ॥
व्याजेन सिध्यमानेषु धनेषु द्विजसत्तम ॥ ५ ॥
तत्रैव रमते बुद्धिस्ततः पापं चिकीर्षति ॥
सुहृद्भिर्वार्यमाणश्च पंडितैश्च द्विजोत्तम ॥ ६ ॥
उत्तरं श्रुतिसंबद्धं ब्रवीत्यश्रुतियोजितम् ॥
अधर्मस्त्रिविधस्तस्य वर्तते रागदोषजः ॥ ७ ॥
पापं चिंतयते चैव ब्रवीति च करोति च ॥
तस्याधर्मप्रवृत्तस्य गुणा नश्यन्ति साधवः ॥ ८ ॥

अर्थ—कुटिलपनासे धर्म करताहै कुटिलपनासे धन कमाताहै कपटसे सिध्यमान हुये धनोंमें हे द्विजसत्तम ॥ ५ ॥ तहांही बुद्धिरमण होतीहै पीछे पाप करनेकी इच्छा करता है मित्र और पंडित निवारणभी करतेहैं परंतु नहीं मानता हे द्विजोत्तम ! ॥ ६ ॥ मैं असंगहूं मैं उदासीनहूं ऐसे पदोंको शम आदिसे शून्यहुआ कहताहै असंगपनाको शब्दसेही दिखाताहै उसके रागदोषसे उपजा तीन प्रकारका अधर्म वर्तताहै ॥ ॥ ७ ॥ पापकोही चिंतवन करताहै कहताहै और करताहै अधर्ममें प्रवृत्त हुआकै उसकै शमआदि गुण नष्ट होजातेहैं ॥ ८ ॥

एकाशीलैश्च मित्रत्वं भजंते पापकर्म्मिणः ॥
सतेन दुःखमाप्नोति परत्र च विपद्यते ॥ ९ ॥
पापात्मा भवति ह्येवं धर्मलाभं तु मे शृणु ॥
यस्त्वेतान्प्रज्ञया दोषान्पूर्वमेवानुपश्याति ॥ १० ॥
कुशलः सुखदुःखेषु साधूंश्चाप्युपसेवते ॥
तस्य साधुसमारंभाद्बुद्धिर्धर्मेषु राजते ॥ ११ ॥
इदं विश्वं जगत्सर्वमजय्यं चापि नित्यशः ॥
महाभूतात्मकं ब्रह्म नातः परतरं भवेत् ॥ १२ ॥

अर्थ—अपना सरीखासे मित्रता करताहै उसको पापकर्मवाले सेवतेहैं उस करकै वह दुःखको प्राप्त होताहै और परलोकमें जाकर दुःखित होताहै ॥ ९ ॥ इस प्रकार पापात्मा होजाताहै मेरेसे धर्मलाभको सुन इन दोषोंको बुद्धिसे पहलेही देखताहै ॥ ॥ १० ॥ वह सुखदुःखोंमें कुशलहै और साधुओंको सेवताहै

उसकी साधुके समागमसे धर्मोंमें बुद्धि प्रकाशित होतीहै ॥ ११ ॥ यह प्रत्यक्षआदि प्रमाणसे सिद्ध संपूर्ण स्थावरजंगम संसार अजय्य अर्थात् कर्मसे लभ्यहै सब प्रकारसे यह संपूर्ण आत्माहै शंकाहै पशुबंधयाजी सब लोकोंको जीतताहै कर्म जय्यत्व जगत्को कैसे सुनाहै इस लिये कहताहै त्रिविध परिच्छेदशून्य वस्तु ब्रह्म आकाश आदि महाभूत जीव और आनंदरूप ईश्वर एतत् त्रितयात्मकहै ॥ १२ ॥

ब्राह्मण उवाच–सत्वस्य रजसश्चैव तमसश्च यथात-
थम् ॥ गुणांस्तत्वेन मे ब्रूहि यथावदिह पृच्छतः ॥
॥ १३॥ व्याध उवाच–हंत ते कथयिष्यामि यन्मां
त्वं परिपृच्छसि ॥ एषांगुणान् पृथक्त्वेन निबोध
गदतो मम॥१४॥मोहात्मकं तमस्तेषां रज एषां प्रव-
र्तकम् ॥ प्रकाशबहुलत्वाच्च सत्वं ज्याय इहोच्यते
॥ १५ ॥ अविद्याबहुलो मूढः स्वप्नशीलो विचे-
तनः॥ दुर्हृषीकस्ततोध्यस्तः सक्रोधस्तामसोऽलसः ॥

अर्थ--ब्राह्मण कहने लगा–सत्व रज और तमके यथार्थ गुणोंको तत्वसे पूछनेवाला मुझसे यथायोग्य कह ॥ १३ ॥ व्याध बोला–जो तू मुझे पूछताहै खेदहै कहूंगा इन्होंके गुणोंको अलग२ जान ॥ १४ ॥ उन्होंमें तम मोहरूपहै रज इन्होंको प्रवृत्त करताहै प्रकाशके बहुलतासे सत्व अत्यंत उत्तमहै ॥ १५ ॥ बहुत अविद्यावालाहो मूढहो बहुत शयन करताहो विचेतन

दुष्ट इंद्रियोंवाला हो अंधेरासे युतहो क्रोधीहो और आलस्यवाला हो ये लक्षण तमोगुणीके हैं ॥ १६ ॥

प्रवृत्तवाक्यो मंत्री च यो नराग्र्योऽनसूयकः ॥
विधित्समानो विप्रर्षे स्तब्धो मानी स राजसः॥ १७ ॥
प्रकाशबहुलो धीरो निर्विधित्सोऽनसूयकः ॥
अक्रोधनो नरो धीमान् दांतश्चैव स सात्विकः ॥ १८ ॥

इति धर्मव्याधगीता समाप्ता ॥ ८ ॥

इति चतुर्दशं प्रकरणम् ॥ १४ ॥

अर्थ—वाक्य कहनेको प्रवृत्तहो मंत्री हो नरोंमें प्रधानहो पराया दोषको नहीं देखता हो विशेष तृष्णावाले हो नमस्कार आदि नहीं करता हो और महत्वको अभिमानवाला हो ये लक्षण रजोगुणीके हैं ॥ १७ ॥ बहुत प्रकाशवाला हो धीर हो तृष्णासे रहित हो पराये दोषको नहीं देखताहो क्रोधी नहो बुद्धिमानहो इंद्रियोंको दमन करनेवालाहो ये लक्षण सत्वगुणीके हैं ॥ १८॥

इति श्रीरोहितकप्रदेशान्तर्गतवेरीग्रामनिवासिगौड़वंशावतंसाविविधशास्त्रपरमपंडितश्रीशिवसहायपुत्ररविदत्तशास्त्रिविरचितपंचदशगीताभावदीपकभाषाटीकायांधर्मव्याधगीता समाप्ता ॥ ८ ॥

यहां चौदहवां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

अथ श्रीकृष्णगीता ॥

श्रीभगवानुवाच—अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावा-

दांश्च भाषसे ॥ गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति प-
ण्डिताः ॥ १ ॥

अब श्रीकृष्णगीता कहते हैं ॥

अर्थ—अर्जुनको देहके नाशमें आत्माका नाश होना और अपना युद्धधर्ममें अधर्म होना ये दो मोह हैं तिन्होंमें पहलाको ब्रह्मविद्याके वीस श्लोकोंसे दूर करते हुये श्रीभगवान् बोले जीवापेतं किलेदं म्रियते—नजीवो म्रियते यह श्रुति है इसका यह अर्थ है जीवसे रहित शरीर निश्चय मरता है जीव नहीं मरता देह आदि उपाधिके नाशमें आकाशकी तरह नाशसे रहितपना करके अशोचनीय भीष्मआदिको शोचता भया अर्थात् कैसे मैंने ये भीष्म आदि मारने उचित हे अथवा उन्होंके विना कैसे जीऊंगा यह शोक करता भया इसप्रकार मूढभी तू प्रज्ञावाद अर्थात् देहसे अन्य आत्माको जाननेवालोंके वचनोंको कहता है, परंतु बुद्धिमान् न है तहां कारणगतप्राणवाले देहोंको पण्डित नहीं शोचते किंतु जलातेही हैं इसकरके प्राणही वांछित हैं और देह नहीं तिसकारणसे देहके नाशमें आत्मनाशको मानता हुआ मूर्खही है ॥ १ ॥

नत्वेवाहं जातु नासं नत्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ २ ॥

अर्थ—शंकाहै देहसे अन्यभी देहके नाशसे नष्टहो जावो कोशके नाशसे कोशकारकी तरह तहां कहतेहैं तू मैं ये सब अनादिअनंतहैं कदाचित् मैं नहीं हुवा यह नहीं किंतु हुआहीहूं तैसे तू नह

हुआ यह नहीं हुआहीहै ये सब राजा न हुये यह नहीं किंतु हुयेहीहैं इस्से परे हम सब नहीं होंगे यह नहीं किंतु होवेंहींगे यहां सूक्ष्म शरीरविशिष्ट आत्माको नित्यत्व साधित किया ॥ २ ॥

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ॥
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र नमुह्यति ॥ ३ ॥

अर्थ–जो ऐसेहीहैं तौभी इष्ट देहके वियोगसे उपजा शोक होताहीहै इस प्रकार शंका कर कहतेहैं स्थूल और सूक्ष्म शरीरवाला देही अर्थात् चिदात्माहै उसका स्थूल शरीरमें कुमारआदि अवस्थावोंके विषे देहभेदभीहै मैं अकेलाही बालक था अब वृद्ध हूं ऐसेहै इसी प्रकार अन्य देहकी प्राप्तिभी होतीहै अर्थात् जैसे एकही स्थूल शरीरको मारणआदि अवस्थाके भेदसे अनेक रूपवालाहै ऐसे नित्यभी लिंगशरीर देव मनुष्य पशु पक्षि आदि अवस्थाके भेदसे अनेक प्रकारका है उक्त न्यायसे स्थूलकी तरह सूक्ष्मशरीरसेभी आत्मा पृथक्है ऐसे शोकआदि धर्मवाला लिंगशरीरसे भिन्नरूप तुझको इष्टवियोगज शोकभी युक्त नहींहै इसी कारणसे उस विषयमें धीर मोहको नहीं प्राप्त होता अभिमानवाले शोक मोह दोनों देहके अभिमान और त्यागनेसे धीरको नहीं बाधते इस लिये तूभी धीरहो ॥ ३ ॥

मात्रास्पर्शास्तु कौंतेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ॥
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥
॥ ४ ॥ यं हि न व्यथयंत्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ॥
समदुःखसुखं धीरं सोमृतत्वाय कल्पते ॥ ५ ॥

अर्थ--लिंगशरीरसे आत्मा अन्य माना जावेगा तो मैं दुःखीहूं इत्यादि अनुभवसे दुःखआदि धर्मका आश्रयत्व दुर्वारहै तिस्से भीष्मआदि बंधुवर्गके नाशमें दुःखका संभव होताहै ऐसी शंका कर कहतेहैं हे कौंतेय!इंद्रियोंकी वृत्तियोंके स्पर्श शीत उष्ण सुख और दुःखको देतेहैं आगमापायीहैं और अनित्यहैं हेभारत ! इन्होंको सह अर्थात् स्वप्नकी तरह आत्मामें दुःखकी प्रतीतिभ्रमहै इष्टवियोगसे उपजी भ्रांतिको सह ॥ ४ ॥ सहनेका फल कहतेहैं येही पूर्वोक्त मात्राके स्पर्श जिसको जाग्रत् स्वप्न सुषुप्तिमें नहीं पीडित करतेहैं समान दुःख सुखवालाको हे पुरुषर्षभ ! वह मोक्षके योग्यहै ॥ ५ ॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ॥
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः ॥ ६ ॥

अर्थ—शंकाहै सुप्ति समाधि आदिमें त्यक्त उपाधिवाला आत्माको समान दुःख होभी सक्ताहै, परंतु उपाधिसहित दशामें तप्त हुआ लोहाका गोला जलाताहै उसकी तरह उसको दुःखिपना दुर्वारहै इसलिये कहतेहैं प्रमाता आदि मूल अज्ञानसे चिदात्मामें कल्पित हैं मूलअज्ञानकी आत्मज्ञानसे निवृत्ति होनेमें कारणके अभावसे प्रमाताआदिकी उत्पत्ति नहीं होती इसलिये ज्ञानसे मोक्ष होताहै शंकाहै अप्रतीतिमात्रसे प्रमाता आदि मिथ्या हुई तो सुप्तिआदिमें आत्माकोभी अप्रतीतिसे मिथ्यापन होगा इसलिये कहतेहैं सद्वस्तुका अभाव कभी नहीं होता क्योंकि सुखसे मैंने शयन किया कुछभी नहीं जाना ऐसे ऊठनेमें परामर्श

दीखताहै उसका अनुभवके विना उन्होंको परामर्शका असंभव होनेसे इसलिये सत्को असत्त्व नहींहै शंकाहै सत्‌रूप आकाशआदिकाभी कहिक देश और कालमें अभाव यद्यपि नहीं है तथापि सत्‌रूप परमाणुका देशांतरमें अभावहै इसलिये कहते हैं इन दोनोंको याथात्म्य तत्वदर्शियोंने देखाहै जैसे स्वप्नमें आकाशआदि नित्यत्व और अनित्यत्व सत्यत्व और असत्यत्व आदि धर्मसे निश्चित हुयेभी प्रबोधनसे बाधित होतेहैं तैसे जाग्रत्‌में देखेहुयेभी ते तत्वज्ञानसे बाधित होतेहैं ऐसे सत्को जाननेसे असत्के नाशसे मोक्षसिद्धहै ॥ ६ ॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ॥
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ ७ ॥

अर्थ–जिसका अभाव नहीं है उस सत्के होनेमें क्या प्रमाण है ऐसी शंका कर कहतेहैं जिस सत्करके यह आकाशआदि संपूर्ण व्याप्तहै सत् अविनाशी जानना यह अर्थ है पूर्व अवस्थाका परित्याग यहां विनाश माना है माटी पिंडके आकारको त्यागकर घट बनजाताहै यह विकारहै, परंतु ब्रह्म ऐसा नहीं है किंतु विकाररहितहै सत्को अविनाशित्वहै विनाशके हेतुके अभावसे इसलिये कहते हैं अविनाशिका नाश करनेको कोईभी समर्थ नहींहै ॥ ७ ॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ॥
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युद्ध्यस्व भारत ॥ ८ ॥

अर्थ–इसप्रकार सत् आत्मा नित्यहै असत् देह आदि अनित्यहै इस उक्तको कहतेहुये श्रीकृष्ण युद्ध करनेको तैय्यार

करतेहैं यद्यपि असत्‌रूप देहोंका तीन कालमेंभी सत्व नहींहै, यह परमार्थदृष्टिसे कहा है तथापि उस दृष्टिको नहीं प्राप्त होता हुआ नरकआदिके भयको अनुरुध्यमानके व्यवहारके अभिप्रायसे नित्य अनित्यका विभागको प्राप्त हो देहोंका अन्तवत्त्व कहाता है इसलिये नित्य शरीरी अनाशी और अप्रमेय ऐसा आत्माके ये देह अन्तवाले कहेहैं तिसकारणसे हे भारत युद्ध कर ॥ ८ ॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ॥
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ ९ ॥

अर्थ–जो तार्किकआदि इस आत्माको हंता अर्थात् हनन क्रियाका कर्ता मानताहै जो चार्वाकआदि इस आत्माको हनन-क्रियाका कर्मभूत मानताहै वे दोनोंभी आत्मतत्वको नहीं जानते जिस्से यह न मारताहै और न मरताहै जैसे लोहाके पिंडमें अग्निके संबंधसेही दग्धृत्वहै स्वभावसे नहींहै इसी प्रकार प्रमाता आदिके उदयके समान नियमसे कर्तृत्वमात्रा आदिका धर्म-हीहै और आत्माका धर्म नहींहै आत्मामें कर्तृत्वप्रतीतिभी मात्रा आदिके संबंधसेही है इसलिये मात्राआदिसे विशिष्टकाही बंधहै केवलका नहीं ॥ ९ ॥

न जायते म्रियते वाकदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ॥ अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १० ॥

अर्थ–यह आत्मा कभीभी नहीं नया उपजताहै न मरताहै होकरही होगा स्थित होकर नष्ट नहीं होता यह अजन्माहै नित्यहै शाश्वतहै पुराणहै हन्यमान शरीरमें यह नष्ट नहीं होता ॥ १० ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ॥
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ ११ ॥

अर्थ—अविनाशी अजन्मा और अव्यय अर्थात् अपरिणामी ऐसा आत्माको जो पुरुष जानै वह किसको मरवाताहै और किसको मारताहै अर्थात् किसीकोभी नहीं क्योंकि द्वैतके अभावसे ॥ ११ ॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ॥ तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ १२ ॥

अर्थ—जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर अन्य नवीनवस्त्रोंको धारताहै तैसे पुराने शरीरोंको त्याग देही नये शरीरोंको प्राप्त होताहै वस्त्रके नाशसे देवदत्तके नाशको मानताहुआकी तरह तूभी देहके नाशसे आत्मनाशको मानताहै इसलिये अत्यंत मूढहै ॥ १२ ॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ॥
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ १३ ॥

अर्थ—इस देहीको शस्त्र नहीं काटसक्के क्योंकि अस्थूलपनासे इसको अग्नि नहीं जला सक्का क्योंकि नहीं अणुपनासे इसको पानी नहीं डबोसक्के क्योंकि अस्पर्शपनासे इसको वायु नहीं सुखाय सक्का क्योंकि नहीं स्नेहपनासे ॥ १३ ॥

अच्छेद्योयमदाह्योयमक्लेद्योऽशोष्य एवच ॥
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोयं सनातनः ॥ १४ ॥

अर्थ—यह देही अच्छेद्य है अदाह्य है अक्लेद्य है और अशोष्य है नित्य है सर्वगत है स्थाणु है अचल है और सनातनहै १४

अव्यक्तोयमचिन्त्योयमविकार्योयमुच्यते ॥
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ १५ ॥

अर्थ—यह अव्यक्त है यह अचिंत्य है यह अविकार्य कहाता है तिस कारणसे इस आत्माको जान तू शोच करनेको योग्य नहीं है 'तरतिशोकमात्मवित्' इस श्रुतिका यह अर्थ है आत्मज्ञानी शोकको तिरता है इसलिये आत्मज्ञानी होकर बंधुवियोगसे उपजा शोक मत करे ॥ १५ ॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ॥
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥ १६ ॥

अर्थ—नित्यजात अर्थात् नियमसे जन्मता है चार्वाकका पक्ष है सब कालमें जन्मता है यह क्षणिकविज्ञानवादीका पक्ष है अपूर्व देह और इंद्रियके सम्बन्धसे जन्मता है यह तार्किक आदिका पक्ष है इन तीनों पक्षोंमेंभी शोकयुक्त नहीं है. हे महाबाहो ! तू शोकके योग्य नहीं है ॥ १६ ॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ॥
तस्मादपरिहार्येर्थे नत्वं शोचितुमर्हसि ॥ १७ ॥

अर्थ—शोकके योग्य नहीं है इसमें हेतु कहते हैं जन्माहुआका मृत्यु निश्चय है और मराहुआका जन्म निश्चय है तिसकारणसे मरणाख्य अर्थमें तू शोकके योग्य नहीं है अर्थात् तेरा उद्योगके विनाभी मरना आवश्यकहै ॥ १७ ॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ॥

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ १८ ॥

अर्थ—यद्यपि आत्माको अशोच्यत्वहै तथापि इष्ट देहके विनाशसे उपजा शोक होताहीहै ऐसी शंकाकर कारणसहित देह आदिको मिथ्यापना साधन करते हैं भूत अर्थात् आकाश आदि और उन्होंके विकारसे उपजे मनुष्यआदि अव्यक्त अर्थात् अज्ञानहै आदि जिन्होंके, अज्ञानहै मध्य जिन्होंके, और अज्ञानमें है मरण जिन्होंका ऐसेंहै इस प्रकारके विषयमें परिदेवना अर्थात् विलाप करना उचित नहींहै ॥ १८ ॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्य्यवद्वदति तथै-
व चान्यः ॥ आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्ये-
नं वेद नचैव कश्चित् ॥ १९ ॥

अर्थ—कोईक आत्मतत्वज्ञाता अतीतानंतर श्लोकमें कहा भूतग्रामको आश्चर्य अर्थात् अद्भुतस्वप्न माया इंद्रजालकी तरह देखताहै कोईक ज्ञाता सत्त्व और असत्त्वसे इसको कहताहै कोईक ज्ञाता इस प्रपंचको आश्चर्यकी तरह सुनताहै कोईक ज्ञाता इस प्रपंचको सुनकरभी नहीं जानता इस लिये आत्मा दुर्विज्ञेयहै उसको जाननेके लिये जतनकर ॥ १९ ॥

देही नित्यमवध्योयं देहे सर्वस्य भारत ॥
तस्मात्सर्वाणि भूतानि नत्वं शोचितुमर्हसि ॥ २० ॥

अर्थ—हे भारत ! सबके देहमें देही नित्यहै अवध्यहै तिसकारणसे तू सब प्राणियोंका शोक करनेको योग्य नहींहै अर्जुनका देहमें आत्मबुद्धिरूप निवारण किया ॥ २० ॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि ॥

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ २१ ॥

अर्थ—अब अर्जुनका स्वधर्मयुद्धमें अधर्मबुद्धिरूप मोहको निवारण करतेहैं हे अर्जुन ! क्षत्रियका युद्ध करना धर्महै इसको देख तू कंपके योग्य नहींहै क्योंकि क्षत्रियको युद्धसे अन्य कोईभी कर्म अत्यंत उत्तम नहींहै सुख दुःख लाभ अलाभ जय पराजय इन्होंको समान जान राग और द्वेष नहीं कर केवल मेरा धर्महै यह मानकर युद्ध कर ऐसे करनेमें तू पापको नहीं प्राप्त होवेगा जो राज्यके लोभसे मित्रोंको मारताहै उसको पाप लगताही है ॥ २१ ॥

इति श्रीकृष्णगीता समाप्ता ॥ ९ ॥

इति पंचदशं प्रकरणम् ॥ १५॥

इति श्रीरोहितकप्रदेशान्तर्गत वेरीग्रामनिवासिगौडवंशावतंसविविधशास्त्रपरमपण्डितश्रीशिवसहायपुत्ररविदत्तशास्त्रिविरचितपंचदशगीताभावदीपकभाषाटीकायां श्रीकृष्णगीता समाप्ता ॥ ९ ॥

यहां पंद्रहवां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

इति पंचदशगीताग्रन्थः ॥

यहां पंचदशगीताग्रंथ समाप्त हुआ ॥

पुस्तक मिलनेका ठिकाना—
खेमराज श्रीकृष्णदास.
"श्रीवेङ्कटेश्वर" छापाखाना—मुंबई.